कणिका में प्राउट

प्रथम खण्ड

श्री प्रभात रंजन सरकार

कणिका में प्राउट

(प्रथम खण्ड)

श्रीप्रभातरञ्जन सरकार

सूचीपत्र

ग्रन्थकार द्‌वारा सर्वस्वत्व संरक्षित

मूल बंगला से अनूदितः

-: प्रकाशक :-

आचार्य सुधीरानन्द अवधूत

प्रकाशन सचिव

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ (रजिष्टर्ड)

भि, आई, पि, नगर, तिलजला

कलकत्ता-३६

प्रथम संस्करण- जनवरी १६६० ई०

मुद्रक :

आचार्य पीयूषानन्द अवधूत

सूचीपत्र

आनन्द प्रेस, तिलजला, कलकत्ता-३६

Rs.-12.00

प्राप्तिस्थान :

आनन्दमार्ग प्रचारक संघ भि, आई, पि, नगर, तिलजला

कलकत्ता-36

सूचीपत्र

चरम निर्देश

“जो दोनों समय नियमित रूप से साधना करते हैं , मृत्युकाल में परमपुरुष की भावना उनके मन में अवश्य ही जगेगी और निश्चित रूप से उनकी मुक्ति होगी ही । अतः प्रतयेक आनन्दमार्गी को दोनों समय साधना करनी ही होगी - यही है परमपुरुष का निर्देश । यम - नियम के बिना साधना नहीं हो सकती । अतः यम - नियम का पालन करना भी परमपुरुष का ही निर्देश है । इस निर्देश की अवहेलना करने का अर्थ है कोटि - कोटि वर्षों तक पशुजीवन के क्लेश में दग्ध होना । किसी भी मनुष्य को उस क्लेश में दग्ध होना नहीं पड़े तथा परमपुरुष की स्नेहच्छाया में सभी आकार शाश्वती

शान्ति लाभ करें , इसलिए सभी मनुष्यों को आनन्दमार्ग के कल्याण - पथ पर लाने की चेष्टा करना ही प्रत्येक आनन्दमार्गी का कर्त्तव्य है । दूसरों को सत्पथ का निर्देशन करना साधना का ही अंग “

श्री श्री आनन्दमूर्ति

रोमन संस्कृत वर्णमाला

विभिन्न भाषाओं का ठीक - ठीक उच्चारण करने के लिए तथा द्रुतलेखन के प्रयोजन को समझकर निम्नलिखित पद्धति से रोमन संस्कृत वर्णमाला का प्रवर्त्तन किया गया है

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ऋ	ॠ	ऌ	ॡ	ए	ऐ	ओ	औ	अं	अः
অ	আ	ই	ঈ	উ	ঊ	ঋ	ৠ	ঌ	ৡ	এ	ঐ	ও	ঔ	অং	অঃ
a	á	i	ii	u	ú	r	rr	lr	lrr	e	ae	o	ao	am	ah

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ	ज	झ	ञ
ক	খ	গ	ঘ	ঙ	চ	ছ	জ	ঝ	ঞ
ka	kha	ga	gha	uṋa	ca	cha	ja	jha	iṋa

ट	ठ	ड	ढ	ण	त	थ	द	ध	न
ট	ঠ	ড	ঢ	ণ	ত	থ	দ	ধ	ন
t́a	t́ha	d́a	d́ha	ńa	ta	tha	da	dha	na

प	फ	ब	भ	म
প	ফ	ৰ	ভ	ম
Pa	pha	ba	bha	ma

य	र	ल	व
য	ৰ়	ল	ব
ya	ra	la	va

श ष स ह क्ष

सूचीपत्र

শ ষ স হ ক্ষ

sha śa sa ha kśa

अँ ञ ऋषि छाया ज्ञान संस्कृत ततोऽहं

অঁ ঞ ঋষি ছায়া জ্ঞান সংস্কৃত ততোऽহং

aṋ jiṋa rśi cháya jiṋána saḿskrta tato’haḿ

a á b c d d́ e g h i j k l m ḿ n

ń ṋ o p r s ś t t́ u ú v y

समग्र विश्व में बहुत प्रचारित रोमन लिपि के २ ९ अक्षर मात्र से संस्कृत भाषा का ठीक - ठीक उच्चारण किया जाना सम्भव है। इसमें युक्ताक्षर का भी झमेला नहीं है। अरबी , फारसी और अन्यान्य f, q , gh , z , प्रभुति अक्षरों का प्रयोजन रहता है , संस्कृत में नहीं। शब्द के मध्य या शेष में ' ड ' , ' ढ ' यथाक्रम ' ड़ ' और ' ढ़ ' ' रूप में उच्चारित होते हैं। ' य ' (जहाँ ' य ' का उच्चारण ' इ ' , ' अ ' होता है) के समान वे भी कोई स्वतंत्र वर्ण नहीं हैं।

सूचीपत्र

प्रयोजन के अनुसार और असंस्कृत शब्द लिखने के समय ŕa और ŕha व्यवहार किया जा सकता है ।

गैर- संस्कृत शब्द लिखने के लिए दिए गए दश अतिरिक्त अक्षर

ক়	খ়	জ়	ড়	ঢ়	ফ়	য়	ল়	ৎ	অঁ
क़	ख़	ज़	ड़	ढ़	फ़	य़	ल़	त्	अँ
qua	qhua	za	ŕ	ŕha	fa	ya	lra	t	aṋ

सूचीपत्र

बिषय

सूचीपत्र

१। समाज का क्रमःबिकाश

२। नीतिबाद

३। शिक्षा

४। सामाजिक सुबिचार

समाज का क्रमःविकाश

ब्राह्मी चित्त का चरम विकाश पाञ्चभौतिक सत्ता है। ब्राह्मी मन की कल्पना-धारा के प्रतिसञ्चर काल में इसी

सूचीपत्र

पाञ्चभौतिक सत्ता ने जब उस विराट ज्ञाता पुरुषोत्तम की अलौकिक सत्ता का कुछ स्पर्श पाया था, तब उसमे प्राणों का स्पन्दन जग उठा और यही प्राण-चञ्चल सत्ता उस (ब्रह्म) की भास्वर दीप्ति से जितना अधिक उद्भासित होती चली उसमें उतनी ही मनन शक्ति जाग्नत होती गई, जो उसे आत्म-सचेतनता के पथ पर आगे ले गई। इसी मननशील जीव-समूह में जो सर्वश्रेष्ठ जीव है वह अपनी व्यष्टि शक्ति को भी इस ब्राह्मी प्रति-संचर गति के पथ से और भी त्वरित गति से ले जाने में सक्षम हुआ। इसी श्रेष्ठ जीव का नाम मानव वा मानुष अर्थात मननशील हुआ ।

मनुष्यों में भी सर्वत्र मननशीलता का विकाश समान नहीं है, ऐसा कि दो मनुध्य ओ एक तरह के नहीं हैं। काल की गति देखते हुए वत्तं मान मनुष्य की अपेक्षा

सूचीपत्र

आदिम मानव में यह मननशीलता का कार्य कम था। आज से लाखों वर्ष पहले जिस समय ब्रह्मचक्र के धारा-प्रवाह में जिस प्रथम मानव-शिशु का जन्म हुआ था उसने इस पृथ्वी को मानव के इतने निरापद आश्रय के रूप में नहीं पाया था। चारों ओर हिंस्र श्वापद और सरिसृप सङ्कुल वनोभूमि, विराटाकार मांस-भोजी जीव-समूह अपने विकराल दंष्ट्रा को खोले चारों ओर अपने आहार की खोज में घूमते फिरते थे। आकाश से वर्षा, तूफान, वज्र और उल्कापात के हाथ से बचने के लिए उनके पास साधुर्यमय घर का वातावरण नहीं था। मध्याह्न काल के शोले बरसाने वाले सूर्य का ताप उस शिशु की जीवनी-सत्ता के अङ्कर को ही सुखा देने की चेष्टा कर रहा था। यही उसकी अवस्था थी। इसीलिए उस काल के मनुष्य ने अपने अन्तर्लोक के पथ पर जाने में, अपनी मननशीलता को उद्घोषित करने में

कितना सुयोग पाया था ? वह अपनी समस्त शक्तियों का उपयोग अपनी रक्षा के लिए कर रहा था-क्रूर प्रकृति के विरुद्ध अविश्रान्त स ग्राम में। उस संग्राम के युग में, उस आदि मानव के समाज में, मूल्य था केवल जड़ शक्ति का, शारीरिक बल का। अतीत युग की उस पृथ्वी पर उसने देखा था कि जिसका जोर उसका मुल्क । किन्तु जहाँ उसने अन्यान्य सभी शक्तियों को अपने शत्रु रूप मे देखा था, वहाँ वह अकेला अलग रह कर रहना युक्ति-युक्त नहीं समझता था। इसलिए एक दूसरे के पास आया था-छोटा-छोटा दल, क्लान (Clan) अथवा गोत्र बनाया था, मिलजुल कर संग्राम कर बचने के उद्देश्य से ।

उस दैहिक शक्ति के युग मे जो सबसे अधिक शक्तिवान था वही उस गोत्र का नेता और समाज पूज्य

वीर बना (hero)। इस प्रकार पुरानी पृथ्वी पर पहले पहल क्षात्र-प्रधान समाज व्यवस्था की प्रतिष्ठा हुई ।

पृथ्वी आगे बढ़ी। उस आदिम मनुष्य का सामाजिक गठन अपनी स्थितावस्था बचा रखने मे समर्थ नहीं हुआ। उसने समझना शुरू किया कि केवल शारीरिक बल से काम नहीं चल सकता, शक्ति के पीछे बुद्धि का भी समर्थन चाहिये, जो बुद्धि इसकी शक्ति को नियन्त्रित करेगी, चालित करेगी और उसे प्रकृत समृद्धि का पथ दिखा देगी । जिस मनुध्य ने संघर्ष के द्वारा प्रथम अग्नि उत्पादन का आविष्कार किया शीतविलष्ट रात्रि की हिमशीतल-मनुष्य-देह में उत्ताप का सुखदायक स्पर्श जगा दिया, वह आदमी अपने शारीरिक बल के द्वारा नहीं बल्कि अपनी बुद्धि और गुण के द्वारा ही सभी

लोगों मे श्रेष्ठ हुआ । समाज ने उसको ऋषि कह कर सम्मान दिया ।

परवर्ती युग में इसी अग्नि की सहायता से वस्तु को दग्ध कर मनुष्य भक्ष्य, पदार्थ को सुस्वादु और सुपाच्य बना डाला। इस प्रकार जिसने पहले अग्नि का व्यवहार सिखाया, वे भी ऋषि के रूप मे माने गये। वे प्रथम ऋषि के उत्तर साधक बने । नग्न मानव देह को ढकने के लिए जिन्होने कपड़ा बुनने की पद्धति का आविष्कार किया था, जिन्होंने मनुष्य के प्रयोजन के लिए गृहपालित जीव-जन्तुओं के व्यवहार का आविष्कार किया था, माँ के दूध से वञ्चित शिशु के लिए जिन्होंने गाय के दूध की व्यवस्था दी थी, वर्त्तं मान युग मे अवहेलित बैलगाड़ी का आविष्कार कर जिन्होंने प्रथम मानव के यान बाहन की असुविधा दूर की थी, वे सभी ऋषि थे वे

सभी मानव समूह के पालक-पिता थे। इसीलिए वे सभी श्रद्धेय वरेण्य और स्मरण्य हैं। इन ऋषियों को जो नवीनता के उद्धारक थे क्षत्रिय समाज ने विप्र कह कर सिर पर चढ़ाया और उनको अशेष समादर दिया ।

दिन आगे बढ़ा। बाहर की दुनिया में मनुष्य और भी घनिष्ट भाव से सम्पकित हुआ, वस्तुओं के व्यवहार को और भी अधिक सीखा अथवा उन सभी वस्तुओं को व्यवहार के योग्य बनाने के प्रयोजन में व्यस्त हुआ। स्वाभाविक नियम के अनुसार कुछ लोगों को इस गढ़ने और बनाने के सांसारिक कार्मो में व्यस्त होना पड़ा। यह विषय-जीवी समाज वैश्य के नाम से परिचित हुआ ।

स्वाभाविक नियमानुसार विप्र वा क्षत्रिय को अपना स्थूल अस्तित्व बचाये रखने के लिए धीरे-धीरे वैश्य के अधीन हो जाना पड़ा। कर्षक के नहीं रहने से अन्न नहीं मिलता, तन्तुवाय (जुलाहा) के नहीं रहने से वस्त्र नहीं मिलता, लोहार, कुम्हार, चमार आदि का प्रयोजन भी नितान्त आवश्यक था। इसीलिए धीरे धीरे विप्र समाज ने और कोई दूसरी राह न देख कर वैश्यों की अधीनता स्वीकार कर ली।

जिनमें क्षत्रियत्व, विप्रत्व, अथवा वैश्यत्व इन तीनों गुणों में से कुछ भी नहीं था, वह इन लोगों के आज्ञावाही भृत्य के रूप में रह गये- इसी पर इन तोनों का शोषण समान और निर्मम रूप में चला। पृथ्वी और आगे बढ़ी। उसके साथ-साथ सामाजिक गठन-विन्यास भी परिर्वात्तत होता चला। सृष्टि के धारावाहिक परिणति

के अनुसार मनुष्य ने अर्थ का आविष्कार किया। क्रमशः यहीं अर्थ सुख भोग के उपकरण के रूप में परिणत हो गया। मनुष्य मनुष्य में खींचातानी आरम्भ हुई क्योंकि जो जितना अधिक अर्थ सञ्चय कर सकता है, वह उतना ही बड़ा धनवान बन जाता है। इच्छा करने से ही वह अधिक जमीन का मालिक बन सकता है; इच्छा करने से ही वह अधिक से अधिक भोग की सामग्रियाँ प्राप्त कर सकता है। वैश्य-प्रधान समाज में वैश्य ही सबसे अधिक वित्तशाली हुआ और अस्तित्व रक्षा के उद्देश्य से बाकी सभी उसके कृपा कटाक्ष पर निर्भर हो गये। यही वैश्य प्रधान समाज व्यवस्था आज भी चल रही है। शोषण के फरुस्वरूप ब्राह्मण और क्षत्रिय समाज शूद्रत्व में परिणत हो रहे हैं। स्वाभाविक है समाज में बहुसंख्यक धनवान व्यक्ति नहीं हो सकते । शूद्रों की संख्या अधिक होती है। ये ही शुद्र सम्मिलित होकर

वैश्यों की प्रधानता नष्ट भ्रष्ट करने पर तुले हैं। इसीसे आज शूद्र प्रधानता की सूचना मिल रही है। किन्तु क्या यह शूद्रों की प्रधानता ही अपरिर्वात्तत रहेगी? शूद्रों के हाथ में यदि समाज के नियन्त्रण का भार चला जाय, तो जगत् की उन्नति और आत्मिक विकाश में क्या बाधा नहीं पड़ेगी ? इसीलिये शूद्र प्राधान्य के साथ-साथ मनुष्य समझ रहा है कि सचमुच में कल्याण-धर्मी समाज व्यवस्था का रूप कैसा होना चाहिए ? समाज में किसी की प्रधानता रहनी उचित नहीं है। एक की प्रधानता रहने पर वाकी का शोषण अवश्य होगा। इसलिए आनन्द-मार्ग एक भेद-रहित समाज चाहता है जिसमें सत्र किसी को समान सुयोग और समान अधिकार प्राप्त हो सके ।

मनुष्य की अग्रगति के लिए सामञ्जस्यपूर्ण समाज व्यवस्था का प्रयोजन अत्यन्त अधिक है। कितने मेधावी विद्यार्थी अर्थाभाव के कारण पढ़ना-लिखना छोड़ने को वाध्य होते है, कितने बड़े शिल्पी परिस्थिति के दबाव में पड़कर अपनी असामान्य प्रतिभा के अङ्कर को कुचलने को बाध्य हो जाते है। यह सब इसी समाज व्यवस्था के दोष के कारण। इस अवस्था को रहने नहीं दिया जा सकता। इस भेद-बुद्धि रूपी बया पक्षी के घोंसले को नोंच देना होगा। तभी मनुष्य मनुष्य-जाति को सामूहिक रूप से श्रेय के पथ पर आगे ले जा सकेगा। उसके पहले सम्भवतः दो चार व्यक्ति आत्मिक विकाश की चरम परिपूर्णता को प्राप्त कर सकेंगे; किन्तु सारी मनुष्य-जाति को दूत-गति से उस परमास्थिति में पहुंचा देना बहुत ही कष्ट-साध्य होगा ।

स्थूल जगत् के उग्र घात-प्रतिघात बार-बार उसकी दृष्टि को बहिर्मुखी भोग्य वस्तुओं की ओर ले जाकर उसकी साधना में बाधा उत्पन्न करेंगे ।

सुसामञ्जस्यपूर्ण समाज-व्यवस्था में कोई यश या अर्थ के लोभ में पड़कर पगले कुत्ते की भांति दौड़-धुप नहीं करेगा। बहिर्जगत् का वातावरण मनःसाम्य अर्जन करने में सहायता देगा और उसके भीतर दारिद्र्य भी क्रमशः कम होता जायगा ।

स तु भवति दरिद्रः यस्य अशा विशाला ।
मनसि च परितुष्ट कोऽर्थवान् कोदरिद्रः ।।

Sa tu bhavati daridrah yasya a'sha' vishala'
manasi ca paritus'te ko'rthava'n kodaridrah.

हे मनुष्य ! मनुष्य की जरूरतों को समझ कर समाज की व्यवस्था बनाओ । तुम अपने क्षुद्र दलगत वा व्यक्तिगत स्वार्थ के मुखापेक्षी बन कर कुछ नहीं करो । कारण जो प्रचेष्टा खण्ड-भाव लेकर की जाती है और जिसमें ब्राह्मीभाव नहीं रहता है, वह टिकाऊ नहीं हो सकती। काल का कराल स्पर्श एक न एक दिन उसकी सारी सत्ता को ध्वस्त कर किस शून्य मे मिला देगा वह तुम नहीं समझ सकोगे । किस प्रकार चलना होगा, क्या करना होगा, किस तरह रखना होगा अथवा तोड़ना होगा इसको जानने के लिए पुस्तक पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है सच्चे प्रेम-भाव और सच्ची सहानुभूति के साथ जगत् के प्रत्येक प्राणी की ओर देखने की और

उस अवस्था में तुम समझोगे कि तुम्हारा तोड़ना, बनाना, रखना उसी आनन्द स्वरूप, आनन्दघन-सत्ता से स्पन्दित और विधृत है। इसी भक्ति और ज्ञान मिश्रित कर्म के द्वारा तुम अपने प्राण के प्राण को, अपने अन्तर के परम श्रेय को, उस परम सत्ता को जिसको तुमने अज्ञात भाव से अपने हृदय रूपी मणिमञ्जूषा मे छिपा कर रखा था, खोज सकोगे ।

मानव समाज

नीतिवाद

समाज शब्द का भावगत अर्थ है एक साथ चलना। समाज की प्राण-सत्ता दो तत्वों पर निर्भर करती है। एक

तो उसका अस्तित्व एक सामवायिक सृष्टि है और दूसरे उसमें गति होनी चाहिए। क्रियान्वित शक्ति का धर्म ही है कि वह पूर्णतया ऋजु रूप से सरल, सीधो रेखा में नहीं चलती - चलती है तरङ्गायित, छन्दयित होती हुई। और छन्द या तरङ्ग तो एक तान वस्तु नहीं, वह संकोच विकाशी है। जिस शक्ति से समाज आगे बढ़ता वह शक्ति भी सङ्कोच-विकाशात्मक है। व्यष्टिगत जीवन का गतिधर्म जहां समष्टि की गति के छन्द को वाधा नहीं देता वहां इस प्रकार अनेक व्यक्तियों के मिलकर चलने में ही समाज की सृष्टि की सम्भावना रहती है, वही वृहत्तर भाव की सार्थकता से उद्‌बुद्‌ध एक मनीषा, सत्ता की भूमा संरचना रहती है। समाज शब्द के प्रकृत अर्थ की दृष्टि से विचार करने पर तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि अभी भी मनुष्य ठीक अर्थ में समाज संगठित करना नहीं सीख सका है, समाज

संगठन तो दूर की बात है समाज की आवश्यकता भी उसके लिए स्पष्ट नहीं हुई हैं।

चलने का अर्थ ही है स्थितावस्था की एक संरचना को तोड़ कर एक दूसरी संरचना गठित करने का प्रयास करना और इस प्रयास में पुरानी जीर्ण व्यवस्था के ऊपर आघात करने में ही नवतर संधिता सृष्टि की सम्भावना छिपी रहती है। आघात के बाद आहत शक्ति थोड़े समय के लिए जो स्थिति प्राप्त करती है वह जड़ात्मक नहीं होती, क्यों कि उसमें परवर्ती आघात की पूर्ण सम्भावना रहती है। जिस व्यवस्था पर आघात किया जाता है वह अपने को बचाने के लिए आघात करने वाली शक्ति को निगल जाना चाहती है। किन्तु वह ऐसा कर नहीं पाती। इसका कारण तो पहले ही कहा जा चुका है। शक्ति सन्चर में सङ्कोच-विकाश का अभाव शक्ति धर्म के

विरुद्ध - है, इसीलिए किसी प्रकार के समाज में क्यों न हो कोई भी स्थायी स्वार्थ समाज की अग्रगति को रोक नहीं सकता है। संसार के सामाजिक इतिहास के अनुशीलन से यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि प्रतिविप्लव का जो भी प्रयास हुआ है वह केवल लोगों के मनस्ताप या अर्धनाश का हो कारण नहीं हुआ है, वह केवल लोगों को निराशा के पङ्क में ढकेलने वाला ही नहीं सिद्ध हुआ है, बल्कि वह सङ्कोच-भाव को बढ़ाने की चेष्टा होने के कारण परवर्ती विक्षेप को दीर्घायत करने वाला सिद्ध हुआ है, उससे विप्लव का विजयरथ और भी तेजी से आगे की ओर बढ़ने को प्रेरित हुआ है।

इस शक्ति या गति का अभिस्फुरण प्रज्ञाहीन मनमाने ढंग से नहीं होता । व्यष्टिगत जीवन में जो ऊनमानसिकता की वृत्ति बाहर के लोगों के लिए

मनमानी कल्पना मालूम होती है समाज के जीवन में उसके लिए अवकाश नहीं है। तब ऐसी बात भी नही है कि हमेशा प्रज्ञाभाव ही इस गति धारा का नियन्त्रण करता है। परन्तु यह जरूर कहा जा सकता है कि बुद्धिहीन भाव से अवसर होने की कोशिश करने पर भी वैसा हो नहीं पाता। भीतरी शक्ति-संघर्ष उसे एक रचनात्मक दिशा में पथनिर्देश कर देता है। इस समाज-धारा के आभ्यन्तरीण शक्तिक्षय को रोकने के लिए जिस प्रज्ञा-मानस की आवश्यकता है वह हरेक व्यक्ति में परिस्फुट नहीं रहता। जिनमें वह प्रकट होता है उनका निश्चय ही विशेष महत्त्व होता है। युक्ति के लिए उसकी प्रकटता के लिए आपेक्षिकता का कितना ही अपवाद क्यों न दिया जाय, व्यावहारिक जगत् में उनकी सार्थकता ही उनके महत्त्वनिर्धारण का सबसे सहज मापदण्ड है।

सूचीपत्र

यहाँ 'सार्थकता' शब्द को लेकर भी दार्शनिकों की चाय की प्याली में तूफान उठता देखा जाता है; क्योंकि जड़वादी (Materialist) और भाववादी दोनों न्यूनाधिक एक ही बात कहते हैं। भाववादियों (Idealist) के सम्बन्ध में यहाँ मुझे बिशेष कुछ नहीं कहना है; पर जड़-वादियों के सम्वन्ध में यह जरूर कहूंगा कि वे ऐसी बातें करते हुए भी स्वविरोधी काम करते है; क्योंकि व्यावहारिक सार्थकता का विचार स्वस्थ मानससत्ता के द्वारा ही सम्भव है। साथ ही इस विचार के समय उसे अपने को जड़ से ऊपर ही रखना होगा। इसे थोड़ा और स्पष्ट क रूगा। जड़बाद जड़ को ही सर्वस्व समझता है। उसके लिए मन भी जड़ का रासायनिक परिणाम मात्र है। इसलिए उसका जड़ात्मक मूल्य छोड़कर और कोई स्वतन्त्र मूल्य या मर्यादा नहीं है। जहाँ ऐसे सिद्धान्त

हों वहाँ सार्थकता का विचार कौन करेगा ? तत्त्वतः जिस का अस्तित्व ही मान्य नहीं है उसे ही विचारक के आसन पर बैठा देना क्या असङ्गत बात नहीं ? और यदि उसे विचारक की मर्यादा ही दें तो फिर जड़वाद कहाँ रहा? तब तो वह भाववाद के सामने घुटने टेक देता है। जुड़वादियों के सिद्धान्तों में और भी अनेक ऐसी स्वविरोधी बातें है जिसकी आलोचना करने की आवश्यकता नहीं। मानववादी दूसरी ओर मानो आकाश में उड़ते हैं। उसके सामने दुनिया को मिथ्या कह कर उड़ा देना भी नहीं चाहता। पर यह मैं जरूर कहूंगा कि मन को एक विशेष मर्यादा देनी ही पड़ेगी। आपात दृष्टि से भाव ग्रहण करने वाला तो स्थूल शरीर ही है पर सच में ग्रहीता या भोक्ता मन है यह बात मनस्तत्व जानने बाला कोई भी व्यक्ति मानेगा। और यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस मन के विचार का एक सार्वदेशिक,

सर्वकालिक और सार्वपात्रिक मापदण्ड यदि न हो तो पारमाथिक विचार से वस्तु-तत्ता का मूल्य निर्धारण सम्भव ही नहीं रह जाता ।

जहाँ सब चीज, अस्तित्वमात्र आपेक्षिक है वहाँ कोई सार्वदेशिक सार्वकालिक या सार्वपात्रिक माननिर्धारण कैसे सम्भव है ? विषय-विषयी भावात्मक मन के क्रिया-भेद सम्बन्ध में थोड़ा भी विचार करने पर यह बात स्पष्ट हो जायगी कि मानससत्ता (फिर वह ऊनमानस हो या द्धित मानस ही क्यों न हो) वस्तु सम्बन्ध से हट कर अपनी अणुसत्ता को बचाकर नहीं रख सकती। उसे कोई एक विषय देना ही होगा, और यदि वह विषय दैशिक, कालिक या पात्रिक सीमा को लांघ जाय तभी उसके लिए और व्यापक भाव से देशकाल पात्र आदि का धारण करना सम्भव होगा एवं इस प्रकार के उदार और व्यापक

भाव में प्रतिष्ठित मानससत्ता ही वास्तव में भूमामानस की संज्ञा पा सकने योग्य है। मन के जो भागवत आदर्श, उसे इस भूमाभाव तक पहुंचाने की प्रेरणा देता है उसे ही नीतिवाद कहते है। नीतिवाद का प्रत्येक अङ्ग मनुष्य को क्षुद्रत्व के भीतर से भी असीम का गान सुनाता चलता है। सरल भाषा में कहा जा सकता है कि जो सवृत्तियाँ वृहद्भाव में प्रतिष्ठित होने में सहायक हैं वे ही सनीति वा नीति है। समाज जीवन को इस नीतिवाद के द्वारा हो नीतिवाद की प्रेरणा लेकर अपनी यात्रा का आरम्भ करना होगा। और तभी उसके जिस अन्त-र्द्धन्द्ध के कारण उसके शक्ति का क्षय होता रहता है उसका अवसान होगा एवं क्षिप्रगति से उसके सम्यक् विकाश की विजय यात्रा सम्भव होगी। इस नीतिवाद को 'रिलिजन' या तथा कथित धर्म (मजहब) का अन्तर समझ कर हो काम में लगाना होगा ।

धर्म है स्वभाव के ही चूक्ष्मतर क्षेत्र में अनुशीलन के माध्यम से आनन्दभाव में स्थिति प्राप्त करना अथवा आनन्दभाव में प्रतिष्ठित होने की प्रचेष्टा। यह आनन्द-धन-भाव ही तत्त्वज्ञों के ब्रह्म और भक्तों का आत्मस्वरूप है। तथाकथित रिलिजन के लिये धर्म शब्द व्यवहार प्रायः शिथिल भाव से किया जाता है। क्योंकि प्रत्येक रिलिजन के प्रवत्त कों ने अपने मतवाद को ईश्वर की वाणी कह कर जनसाधारण के सामने रखा है। उनमें से किसी ने भी युक्ति या तर्क का रास्ता नहीं लिया। इसके पीछे उनका चाहे जो भी उद्देश्य हो, पर उसके अवलम्बन के लिए मनुष्य को अपनी परम सम्यक् विचारशीलता को खोना पड़ा है। मैं ईश्वर का दूत हूँ, मैं जो कहता हूँ वह ईश्वर की घोषणा है। यह कहकर मध्ययुग के अनग्रसर लोगों के मन में भय-त्रास उत्पन्न

कर उनके कन्धों पर अपना मतवाद लादने का परिणाम क्या लोगों या जीव समाज के लिए कल्याण कारक हुआ था ? प्रायः सब मजहब कहते हैं कि उस मजहब को मानने वाले ही ईश्वर के प्रिय हैं और बाकी ईश्वर के अभिशापस्वरूप हैं; वे शैतान को जंजीर में बँधे हुए है। कोई कहता है- हमारे प्रेरित पुरुष ही त्राण के एक मात्र अवलम्ब हैं; उनकी शरण के अतिरिक्त जगत् की ज्वाला से बचने का कोई रास्ता नहीं। दूसरा कहता है- मैं ही ईश्वर का अन्तिम दूत हूँ; प्रकार इतनी बार प्रतिदिन भगवान् की प्रार्थना करनी होगी; इस प्रकार अमुक दिन अमुक अमुक पशु की बलि करनी होगी, यही श्री भगवान् का अभिप्राय है, तुम में से जो लोग इन विशेष विधियों को मानेंगे वे अन्तकाल में ईश्वर के दरबार में जब अन्तिम न्याय होगा तब स्वर्ग पायेंगे। कोई और कहता है- 'यह बात ठीक से समझ लो,

तुम्हारे भगवान् ही भगवान् हैं, औरों के भगवान भगवान् नहीं।' जरा विचार कर देखिए इनमें से प्रत्येक रिलिजन ने सौभ्रात्र की वाणी का प्रचार किया है; किन्तु इस सोभ्रात्र या universal fraternity को अपने सम्प्रदाय में ही सीमित कर रखा है। ऐसी सौभ्रात्र की वाणी के धक्के से मनुष्य समाज का दम घुट रहा है; उसकी मौत का सामान इकठ्ठा हो रहा है। अपने अपने मजहब का भाव गम्भीर नारा लेकर ये जिस नरमेध यज्ञ में प्रवृत होते है, जिस उद्दाम साम्प्रदायिकता का नंगा नाच शुरू करते है उसे यदि इन मजहबों के प्रवत्तंक देख पाते तो लज्जा से उनका सिर झुक जाता । मध्ययुग में संसार में कितनी खून-खराबी हुई है उसका अधिकांश इस प्रकार की साम्प्रदायिक दलबन्दियों का स्वाभाविक परिणाम रहा है। मजहब प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से साम्प्रदायिकता को ही प्रथम जोर देते हैं। मजहब के आधार पर खड़ी

होने वाली सामाजिकता का ही नाम साम्प्रदायिकता है। मध्ययुग में ही क्यों कहा जाए, अति प्राचीन युग में संसार में बार-बार जो तथाकथित धार्मिकों की ओर से अनजान, भोले लोगों को प्रकाश दिखाने की चेष्टा चली आ रही हैं, उसने बहुत बार एक न एक उलट फेर ला कर ही दम लिया है। मनुष्य मात्र के लिए सच्चा प्रेम, सच्ची सहानुभुति उनमें नहीं रही। ऐसे घर्मध्वजाधारियों को किसी क्षुद्र सांसारिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए अर्थबल, अस्त्रबल या बुद्धिबल किसी के प्रयोग में जरा भी संकोच नहीं हुआ; आज भी नहीं होता है। इसीलिए कहता हूँ, मजहब के लिए आध्यात्मिक मुक्ति तो दूर की बात है, स्थूल सांसारिक स्वाच्छन्द्य विधान में भी वह हर कदम पर अपनी अयोग्यता प्रमाणित कर चुका है। मजहब मनुष्य मनुष्य में भेद उत्पन्न कर प्रत्येक मनुष्य को एक अखण्ड मानव समाज के अंग के रूप में

ग्रहण करने में हर कदम पर रोड़े अटकाता रहा है और इस निषेधाज्ञा के समर्थन के लिए उसने अनेकानेक युक्तिहीन प्रमाण उपस्थित किए हैं, अजस्र सड़ी पोथियों के फटे पुराने पन्न दिखलाए हैं।

मजहब या रिलिजन लोगों के मन को स्थाणु बनाकर रखना चाहता है; क्योंकि वह शोषण तन्त्र को सहज ही अपने नियम के ढांचे में बना ले सकता है; और यह स्थितिशीलता मानव धर्म का विरोधी है। तब क्या किया जाए ? मजहबों के प्रवर्त्तक तो चाहते थे कि लोग अपने गतिधर्मी स्वभाव को तिलाञ्जलि देकर भय से हो, मोह से हो बहुतेरे विशेष भावों को युक्ति, तर्क का बिना विचार किए ही अभ्रान्त सत्य मान लें। अधिक बातें करने से इनकी विद्या का पोल खुल न जाए, इसलिए कोई प्रश्न उठने पर मौन धारण कर उत्तर देने की

जवाबदेही से बचने को कोशिश करते हैं। इससे उत्तर देने की भझ्झ झट नहीं उठानी पड़ती, साथ ही मौनी होने की ख्याति भी मिल जाती है। इनमें कोई तो मनुष्य के मन की जिज्ञासात्मक भावना को दबा रखने के लिए ऐसी बातें भी कह जाते हैं कि ऐसे प्रश्न करने का स्वभाव ही अनुचित है, बुरा है।

तथाकथित मजहब की कोई भी किताव पढ़कर देखिए बहुत कम जगह उसमें अन्य मत के सम्बन्ध में सहिष्णुता का परिचय मिलेगा। मैं ऐसा नहीं कहता कि जो कुछ अन्य मत कहें वही मान लिया जाए; किन्तु किसी का मत न मानना और किसी मत के प्रति असहिष्णु होना ये दोनों तो एक बात नहीं है। इसके अतिरिक्त दूसरों के मत का खण्डन करना कैसी बात हुई ? दर्शन की पुस्तकों में विशेष प्रसंङ्ग में

तुलनात्मक विचार दिखाए जा सकते हैं या अश्रद्धा दिखाए बिना किसी की दार्शनिक या मन-स्तात्विक त्रुटियाँ दिखाई जा सकती है किन्तु किसो को अपदस्थ करने की चेष्टा उच्चमानसिकता का परिचायक नहीं कहा जा सकता। पर इन तथा-कथित धर्म या मजहव की पुस्तकों में अपने मत का प्रचार करने की अपेक्षा दूसरों के मत के खण्डन की चेष्टा अधिक देखी जाती है। यह सब देखकर तत्त्वज्ञ व्यक्तियों के मत में मजहबों के सम्बन्ध में कोई आदर का भाव नहीं रह पाता ।

प्रकृत तत्त्वज्ञ तो कहेंगे :-

युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं वालकादपि

अन्यंतृर्णामव त्याज्यमप्युक्त पद्यजन्मना ।

सूचीपत्र

*   *   *   *

केवलं शास्त्रमाश्रित्त्ययं न कत्तव्याविनिर्णयः
युक्तिहीन विचारेन धर्महानि प्रजायते ।

कोई बच्चा भी यदि युक्तियुक्त बात कहे तो उसे स्वीकार करना चाहिए और यदि स्वयं पद्मयोनि ब्रह्मा भी युक्ति-हीन बात कहें तो उसे तृण की तरह मूल्यहीन समझकर छोड़ देना चाहिए ।

शास्त्र में कोई बात लिखी है इसीलिए उसे मानलेना कदापि उचित नहीं; क्योंकि यदि शास्त्र की कही युक्ति-हीन बात भी मान ली जाए तो फलतः धर्म की हानि ही होगी।

सूचीपत्र

नीति शब्द का भावार्थ है जिसमें ले चलने का भाव हो। नीति साधनामार्ग का प्रथम बिन्दु है। इसलिए इसका इतना ही परिचय नहीं हो सकता। नीति यदि मनुष्य को पूर्णता के मार्ग में अग्रसर होने के लिए पाथेय न प्रस्तुत करे तो उसे नीति नहीं कहा जा सकता। जिसमें सचमुच आगे ले चलने का गुण है, जिसमें सचमुच प्रेरणा देने की विशेषता है वह किसी खास देश, काल या पात्र में सीमित होकर अपना गतिधर्म नहीं खो सकता। इसीलिए नीति एक living force, है, जिसकी साधना मानस सत्ता को अधिकतर मननशीलता के माध्यम से सूक्ष्म में, परम प्रज्ञा में सुप्रतिष्ठित कर सकती है। जहाँ से मनुष्य को और कहीं ले चलने का प्रश्न ही न रह जाए, वहाँ तक चलने की प्रेरणा दे सकने में 'नीति' नाम की सार्थकता है।

सूचीपत्र

नीतिवाद भाववादियों का कोई स्वप्न विलास, ख्याली पुलाव नहीं; और जड़-वादियों की आवश्यकताओं की पूति के लिए व्यवस्थामात्र भी नहीं हैं। नीतिवाद एक ऐसा वाद है जो लोकायत वस्तुभाव को लोकोत्तर प्रज्ञाभाव में मिला देने की सारी सम्भावनाए लेकर मनुष्य के सम्मुख प्रस्तुत रहता है।

नीतिवाद को आत्मस्थ करने का अभ्यास जीवन में उसी समय आरम्भ करना होगा जिस समय उसमें क्रियाशीलता का बीज अङ्करित होता है। यहां क्रियाशीलता से मेरा तात्पर्य सामाजिक कार्यों से है। इस दृष्टि से शिशु का मन ही नीतिवाद को ग्रहण करने के लिए सबसे उपयुक्त भूमि है। किन्तु यह नीतिशिक्षा देगा कौन ? माँ-बाप शिक्षकों को दोष देते हैं और शिक्षक लोग कहते हैं दो-तीन सौ विद्यार्थियों की भीड़ में किसी

खास विद्यार्थी पर वे कैसे ध्यान दे सकते हैं। यद्यपि यह ठीक है कि अधिकांश छात्रों के माँ-बाप अशिक्षित या अद्ध शिक्षित हैं और यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि अधिकांश शिक्षक सुशिक्षित है तथापि इस सम्बन्ध में सारा भार उन्हीं के कन्धों पर थोप देना उचित नहीं। विद्यालयों में शिक्षकों की संख्या बढ़ा देने से इस समस्या का कुछ अंश में तो समाधान होगा, किन्तु इस समस्या के समाधान की असल कुञ्जी माँ-बाप के हाथों में ही रह जाती है। जहाँ माँ-बाप अपनी जबाबदेही निभाने में अयोग्य हैं वहाँ शिक्षक और समाज हितैषी व्यक्तियों का और अधिक जबाब-देही अपने ऊपर लेने के लिए आगे आना होगा। यह स्मरण रखना होगा कि जिस नीतिवाद पर मनुष्य का अस्तित्व आधारित हैं वह नीतिवाद जब मनुष्य को अन्त में मानवता के चरम विकाश के स्तर तक पहुंचा दे, यथार्थ में तभी उसका

व्यावहारिक मूल्य प्राप्त होगा। नीतिवाद के स्फुरण से लेकर विश्वमानवता में प्रतिष्ठा, इन दोनों के बीच जो अवकाश है उसके अतिक्रम करने के मिलित प्रयास का ही नाम सामाजिक प्रगति है। और जिन लोगों ने मिलजुल कर चेष्टा की है, जो इस अवकाश पर विजय पाने के प्रयास में रत हैं उन्हें एक 'समाज' कहा जाएगा ।

शिक्षा

अभिभावकगण प्रायः कहा करते हैं- 'आजकाल शिक्षक कुछ सिखाते पढ़ाते नहीं।' इसे और चाहे जो कहा जाए पर सुविचार पूर्ण नहीं कहा जा सकता । वस्तुतः

यह अपना उत्तरदायित्व टालने का बहाना भर है। साथ ही यह भी कहना पड़ेगा कि शिक्षक भी अधिकतर अपना व्यक्तिगत स्वार्थ पूरा करने की जितनी कोशिश करते देखे जाते हैं उनके व्यवहोर एवं विचार में सामाजिक कर्तव्य पालन का उतना ही कम परिचय मिलता है। उसका जैसे तैसे Made Easy या Note book लिख कर कमाने की ओर जितना झुकाव रहता है उसका एक आना भी समाज संगठन की ओर नहीं रहता। जिस तरह अशिक्षित या अद्धशिक्षित अभिभावक अपने बच्चों को गाली देकर मारते हैं, अनेक बार शिक्षकों का व्यवहार उनसे भो गया बीता होता है। मनोविज्ञान की पुस्तकें पढ़कर भी वे अनेक बार शिशु के मन पर क्लेश पहुंचाने वाली, मनको चूर चूर कर देने वाली बातें बोलते हैं। ऐसे शिक्षक भी बहुत मिलेंगे जो शिशु की जाति, उसके पिता के पेशे आदि का उल्लेख करके बच्चों के मन को

व्यथित कर देते हैं। 'हल छोड़ कर कलम घरने क्यों आया है ?" "जाओ, जाओ जाकर बाप के साथ चाक चलाओं ।' अनेक शिक्षकों के मुँह से आज भी ऐसी बातें निकलती है। बच्चा यदि देखने में कुरूप हो तो बहुत से शिक्षक नाक-भौं सिकोड़ कर कहते हैं-देखने में जैसे खूबसूरत हो वैसी ही बुद्धि भी पाई है।' मारना या और दूसरी तरह की शारीरिक यातना देने को बात तो छोड़ ही दी है। बहुत से शिक्षक आज भी केवल डरा धमका कर पढ़ाते हैं। दुर्भाग्य से ऐसे शिक्षक यदि बीमार होने के कारण स्कूल नहीं आ पाये तो लड़कों की खुशी का ठिकाना नहीं रहता। कितने शिक्षक हैं जो छात्रों में ज्ञान की भूख जगाने की कोशिश करने हैं? शिक्षा-व्यवस्था को अर्थकारी कहकर, दोष देकर अपने उत्तरदायित्व से क्या वे बच सकते हैं ? अर्थकारी शिक्षा क्या शिक्षा नहीं है ? उसमें क्या ज्ञानार्जन का सुयोग नहीं है? उसमें

क्या कल्याण का बीज नहीं है ? इसीलिए कहना पड़ता है कि 'दो सौ, तीन सौ लड़कों में किस पर ध्यान दिया जाए'- यह कह कर शिक्षक अपनी जिम्मेवारी को चुटकी बजाकर उड़ा नहीं दे सकते । ज्ञानार्जन, सामाजिक जीवन के लिए संयम एवं मिलित प्रयास के लिए आवश्यक शिक्षा तो शिक्षकों को ही देनी है। तब नैतिकता तथा शिक्षा के उत्तरदायित्व का अधिकांश भार माता-पिता को ही लेना होगा। अधार्मिक तथा नीति-विरोधी माता पिता की सन्तान को सदबुद्धि सम्पन्न नागरिक बनाने का उत्तर-दायित्व समूचे समाज को लेना होगा। यदि हो सके तो ऐसी सन्तान को माता पिता के दूषित परिवेश से हटाकर, दूर रखना होगा ।

माता पिता के उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में कुछ अधिक कहने के पहले शिक्षकों के सम्बन्ध में और भी

दो एक बातें कहने की आवश्यकता है। पहली बात है शिक्षक निर्वाचन में सतर्कता। उपयुक्त शैक्षणिक डिप्लोमा या डिग्री रहने से ही किसी को शिक्षक बनने का अधिकार नहीं हो जाता। उनमें चारित्रिक दृढ़ता, धर्मनिष्ठा, समाज सेवा, निःस्वार्थभाव, व्यक्तित्व और नेतृत्व का गुण होना हो चाहिए। शिक्षक है समाज गुरु । इसीलिए जिस किसी को भी शिक्षक के रूप में मान लेना किसी प्रकार योग्य नहीं। शिक्षक के पद की गरिमा जितनी अधिक है उनकी योग्यता का मापदण्ड भी उतने ही ऊंचे स्तर का होना चाहिए।

समाज में आजकल ऐसे अनेक लोग हैं जो भूखे या आधा पेट खाने वाले शिक्षकों को प्राचीन भारत के तपोबन के गुरुगृह की या ऋषियों के आश्रमों की बातें सुनाते हैं और कहते हैं कि आज के शिक्षक उस ऊचे

सूचीपत्र

आदर्श से गिर गए हैं, शिक्षकों को वह आदर्श नये रूप में ग्रहण करना चाहिए। पर वे भूल जाते हैं कि बड़ी लम्बी-चौड़ी बातों से आदमी के पेट की ज्वाला नहीं मिट सकती। "अन्न चिन्ता चमत्कार" । जिनको भरपेट खाना भी नहीं मिल पाता ऐसे शिक्षक यदि चार-पांच घरों में ट्यूशन करें और इसलिए अधिक थकावट के कारण उनसे बच्चों के मानसिक संगठन के उत्तरदायित्व का ठीक तौर पर निर्वाह न हो सके तो क्या यह दोष शिक्षकों का ही है? नहीं, इसमें शिक्षकों का लेशमात्र भी दोष नहीं। संसार में ऐसे अनेक देश हैं जहाँ किसी धनी आदमी का कुत्ता महीने में जितने रुपए का केवल मांस खाता है, शिक्षक को उससे भी कम वेतन मिलता है, ऐसी अवस्था में ऐसे शिक्षकों से समाज के प्रति जागरुक रहने की आशा की जा सकती है ? सब देशों में न्याय एवं शासन विभाग के कर्मचारियों को जिस दर से वेतन

दिया जाता है उससे अधिक नहीं तो कम से कम उस दर से तो शिक्षकों का वेतन अवश्य निर्धारित होना चाहिए। यह बात याद रखनी चाहिए कि तपोवन के ऋषि या गुरु प्राचीन भारत की राजशक्ति से नियमपूर्वक देवोत्तर, ब्रह्मोत्तर सम्पत्ति तथा दक्षिणा पाते थे। घर-घर में घूम कर ट्यूशन करके उनको अपने परिवार का प्रतिपालन नहीं करना पड़ता था। उनकी अन्न समस्या के समाधान का पूरा का पूरा भार राजशक्ति पर था । शिष्यों को भोजन-आच्छादन देकर वे ही पालते थे पर जनसाधारण ही श्रद्धा के साथ वह घन उन्हे पहुंचाता था ।

शिक्षकों की जीवन-यात्रा का माप उन्नत कर देने से ही वे आदर्श मनुष्य निर्माण कर सकने का सुयोग पायेंगे यह भी नहीं कहा जा सकता। ख्योंकि आज भी संसार

के अधिकांश देशों में (जहां शिक्षक साधारणतः मोटे तौर पर अच्छी तरह खाने पहनने का सुयोग पाते हैं) शिक्षा-व्यवस्था की नीति के निर्धारण का अधिकार शिक्षकों को नहीं है। शिक्षानीति का निर्धारण करते हैं वे जो साधारणतः राजनैतिक वृत्ति से परिचालित होते हैं। ऐसा भी होता है कि उनमें से अनेक लोगों को शिक्षा के विषय में लेशमात्र भी अभिज्ञता नहीं रहती। इसलिए यदि शिक्षकों को आदर्श मनुष्य बनाने के लिए कुछ भी उत्तरदायी समझता है तो शिक्षादान के यन्त्र के रूप में उनका व्यवहार न कर उन्हें शिक्षा-व्यवस्था का प्रणेता होने का अधिकार भी देना पड़ेगा। राजशक्ति उनके सामने अपनी सामयिक या राष्ट्रीय आवश्यकताएं रख सकती है पर उन्हें ग्रहण करना या न करना शिक्षको की स्वतंन्त्र इच्छा पर ही छोड़ देना चाहिए । यदि वे राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए अथवा विश्वमानव की मुखापेक्षा

से राष्ट्र द्वारा प्रस्तावित किसी व्यवस्था का समर्थन करें तब वे उसे निश्चय ही कार्यरूप में परिणत करेंगे; क्योंकि राष्ट्र उनसे यथोपयुक्त कार्य का हमेशा ही दावा कर सकता है। ये सब बातें कहने का प्रधान कारण यह है कि गणतन्त्र प्रधान वर्तमान संसार में राजनैतिक दलबन्दी एक रोजमर्रे की बात हो गई है। इस अवस्था में जिस दल में भी क्षमता होगी उसके लिए शिशुमन को अपने दलगत उद्देश्य से व्यवहार करने की इच्छा करना एकदम स्वाभाविक है। किन्तु शिक्षकों का काम तो उन राजनीतिक दलों की सदिच्छा (१) का मुंह ताकने से चलेगा नहीं। उन्हें तो हमेशा वृहत्तर आदर्श को लक्ष्य कर काम करते चलना होगा। विद्यालयों के अधिकार क्षेत्र में किसी अशिक्षक को शिक्षासम्वन्धी विषयों में नाक घुसेड़ने का अधिकार नहीं दिया जा सकता ।

यह तो हुआ शिक्षा सम्बन्धी नीति निर्धारण के अधिकार के विषय में। पर वात यहीं समाप्त नहीं होती। विद्यालयों के संचालन के क्षेत्र में भी बहुत से देशों में यह देखा जाता है कि केवल आर्थिक कारण से ऐसे अनेक लोगों को संचालन समितियों में लिया जाता है या गुरुत्वपूर्ण पदों पर रखा जाता है जिन्हें प्रचलित भाषा में बज्त्रमूर्ख छोड़कर और कुछ नहीं कहा जा सकता। उनकी एक मात्र योग्यता होती है उनका अर्थबल । तब ऐसी बात ऐसे ही देशों में होती है जहां चाहे जिस कारण से भी हो पर शिक्षाव्यवस्था की जवाबदेही राष्ट्र ग्रहण नहीं कर सका है। ये घनी स्कूल-परिचालक शिक्षित शिक्षकों को बहुधा अपना कृपापात्र समझते है। ऐसे लोग अपनी बुद्धिहीन सन्तान को परीक्षा में उतीर्ण कराने के लिए शिक्षकों पर दबाव डालने में भी नहीं हिचकते, शिक्षाव्यवस्था में अनावश्यक हस्तक्षेप करते हैं;

बच्चों पर शासन करने से शिक्षक पर आखें लाल-पीली करते हैं। यह अवस्था कभी भी वाञ्छनीय नहीं कही जा सकती। इस कारण शिक्षक अपनी विवेक बुद्धि से काम करने का सुयोग नहीं पाते। धनाभाव के कारण हो सकता है उन्हें पेट के लिए डर-डर कर दिनगत पापक्षय करते चलना होता हो अथवा उनके पौरुष पर बार-बार धक्का लगाने के फलस्वरूप एक दिन ऐसी कटुता आ जाती है कि उन्हें नौकरी से इस्तीफा देकर दूसरी जीविका की खोज में दर दर की खाक छाननी पड़ती है। जब शिक्षक ऐसे वातावरण में काम करते हैं तब भला वे अपने छात्रों के ऊपर ठीक ठीक नजर रख सकें ऐसा मनोबल उनमें केसे रह सकता है।

ये हुई शिक्षकों की समस्या की बातें । शिक्षार्थियों की मी कई समस्याए है जिनपर अनेक लोग बिचार करना नहीं चाहते। पहले ही कहा जा चुका है कि छात्रों पर दबाव डालकर या डरा धमका कर उनसे कुछ पाने की चेप्टा वृथा चेष्टा है। ऊपर से देखने पर मालूम होता है कि काम होता है पर इससे कोई स्थायी फल नहीं होता । मां-बाप या शिक्षक के डर से लड़का जो कुछ सीखता है, भय का कारण हट जाते ही सीखा हुआ भी सव छुमन्तर हो जाता है क्कोंकि वह शिक्षा और वह भय दोनों अङ्गाङ्गिभाव से सम्बद्ध होने के कारण भय हट जांने के साथ ही साथ शिक्षागत ज्ञान भी मन के स्फुटतर भाग से हट जाता है। जो शिक्षक डरा धमका कर छड़ी दिखाकर पढ़ा लेते है, क्लास से उनके बाहर जाते ही लड़के दीर्घ निश्वास लेते हैं और समझते हैं- भाई, जान बची। लड़के ऐसे शिक्षकों के भय से कड़ी

मेहनत करके जी कुछ कण्ठस्थ करते हैं, कुछ ही घंटों में सब लीपपोत कर बराबर कर देते हैं। परीक्षा के डर से लड़के मन पर जोर देकर जब पढ़ते हैं तब ऐसा मालूम होता है कि दस दिन का कार्य एक घंटे में हो जाता है; पर परीक्षा का डंडा सिर पर से उतरते ही एकबार फुटबाल के मैदान या सिनेमा हाउस से आते ही उन्हें मालूम होता है कि अनजाने ही उनका पढ़ा लिखा सब या तो फुटबाल के साथ किक हो गया है या सिनेमा के गीत अथवा किसी अभिनेत्री के चरणों में दक्षिणा में समर्पित हो गया है; क्योंकि भय का कारण उपस्थित नहीं था। डरा धमका कर पढ़ाने लिखाने का दुष्परिणाम, अनेक देशों के लोगो को भुगतना पड़ रहा है। अधिकांश शिक्षित व्यक्ति विद्यालय या विश्वविद्यालय की चाहार दीवारी पार कर कर्मक्षेत्र में प्रवेश करते ही अपनी शिक्षागत योग्यता का अधिकांश भाग वही गुरुजी को

दक्षिणा मे दे जाते हैं। ऐसे लोगों की विद्या का यदि मूल्याङ्कन करना हो तो कहना पड़ेगा कि इनका समय, सामर्थ्य, और परिश्रम का अधिकांश मूल्य हीन या व्यर्थ हो गया है।

हाँ, इसीलिए कहता हूं कि डरा धमका कर पढ़ाने लिखाने की चेष्टा करने से काम नहीं चल सकता । पढ़ने के लिए ज्ञान की भूख जगानी होगी और उसके साथ ज्ञान की भूख मिटने की व्यवस्था के रूप में यथोपयुक्त शिक्षा देनी होगी। इसी में शिक्षा की सार्थकता है। तभी वह शिक्षा छात्रों के शरीर, मन और आदर्श का सम्यक रूप से गठन कर सकेगी ।

शिशुओं के मन का झुकाव खेलने-कूदने की ओर सबसे अधिक रहता है। इसलिए खेलकूद के माध्यम से ही उनकी ज्ञानतृष्णा जगानी चाहिए। खेलकूद के माध्यम से ही उन्हें शिक्षा देनी होगी। शिशु के मन में कहानी सुनने का भी चाव होता है। कहानी के माध्यम से उसे सहज भाव से देश विदेश का इतिहास भूगोल सिखाया जा सकता है। विश्व को अपना बना लेने की साधना का क ख ग इसी प्रकार सिखाया जा सकता है।

बालक के मन में खेल-कूद और कहानीं दोनों की ओर समान भाव से झुकाव रहता है। इसलिए उनके समय में इन दोनों का सुयोग समान भाव से लेना होगा।

किशोर के मन में भविव्य का स्वप्न अङ्करित होना शुरू होता है, इसलिए किसी तरह की सङ्कीर्णता को प्रश्रय न देकर उन्हें आदर्शवाद के माध्यम से शिक्षा देना उचित होगा ।

युवकों के मन कुछ वास्तविकता की ओर अग्रसर होने लगता है। इसलिए वहाँ केवल आदर्शवाद कुछ विशेष काम नहीं कर सकेगा। उनको शिक्षा के लिए आदर्श के साथ वास्तविकता का सम्मिश्रण करना ही होगा।

शिक्षकों को स्मरण रखना होगा कि शिशु, बालक, किशोर, युवक या वृद्ध-शिक्षार्थी चाहे किसी उम्न का क्यों न हो, उनके सामने वे विभिन्न आयु के शिशु ही

है। और वे (शिक्षक) भी उन्हीं की तरह शिशु हैं। अपने को उनसे दूर हटा कर रखने से या हमेशा कष्ट-कल्पित गाम्भीयं बना कर रखने से चाहे और कुछ हो पर प्रेम का सम्पर्क स्थापित नहीं हो सकता और प्रेम-सम्पर्क के बिना भावों का यथोचित रूप से आदान प्रदान कभी भी सम्भव नहीं। प्रम सम्वन्ध के अभाव के कारण ही अनेक लड़के कड़े शिक्षकों या प्रहारपटु माता पिता की मन ही मन मृत्यु कामना भी करते हैं।

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद ही बहुत से देशों में शिक्षा व्यवस्था को राष्ट्रीयता के साँचे में ढालने का प्रयास देखा जाता है। ऐसे किसी प्रयास की सार्थकता कितनी है इस विषय में विचार न करते हुए भी यह तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि उसमें यदि छात्रों की आवश्यकता समझने की चेष्टा न रहे तो हो सकता है कि वह

राष्ट्रीय शिक्षा हो पर वह मानव शिक्षा नहीं मानी जा सकती। प्रादेशिकता या साम्प्रदायिकता के समान राष्ट्रीयता भी शिशु मन पर घातक आघात करती है। इससे उसकी स्वच्छ विचार बुद्धि बहुत कुछ नष्ट हो जात्ती हे। हमारे देश की चीजें हो अच्छी हैं और दूसरों से कुछ भी सीखना नहीं है ऐसा मनोभाव भी कभी हो सकता है, वेद में सब कुछ है; 'अमुक महापुरुष हमारे लिए जो समाज व्यवस्था बता गए हैं उसमें बाल बराबर भी अन्तर नहीं हो सकता, वह स्वयं ईश्वरीय वाणी है, 'हमारी रामायण, महाभारत पढ़ कर ही अमुक देश ने हवाई जहाज बनाना सीखा'- ऐसी बातें छात्रों के मन में राष्ट्रीय, साम्प्रदायिक स्थविरता Inject करने के ही परिणाम हैं।

अत्यन्त उग्र राष्ट्रीयता का भूत यदि शिक्षा व्यवस्था के प्रवक्ताओं के सर चढ़ बैठे तो वे अनेक बार राष्ट्रीय विशेषता के नाम पर देश के छात्रों को बाकी दुनियाँ से अलग रखने की चेष्टा करते हैं। यह हमेशा स्मरण रखना चाहिए कि जिन जिन सूत्रो के बल पर मनुष्य-मनुध्य के पास पहुंचने का सुयोग पाता है उन्हें तोड़ फेंकने के बदले अधिकाधिक मजबूत करने में हो मनुष्य समाज के सामूहिक-कल्याण का बीज निहित है। वास्तविक कल्याण को चरितार्थ करने में, सभ्भव है राष्ट्रीयता के उग्रभाव को धक्का लगे पर बुद्धिमान लोगों को वह धक्का सम्भाल कर उठना ही होगा ।

मानव सङ्गठन करने के सूत्र के विषय में कह रहा था। उदाहरण के लिए पराधीन पाकिस्तान या भारतवर्ष

की बात ली जाए। अंगरेजी भाषा यद्यपि समुद्र पार से आयी थी, तो भी भारत के विभिन्न अधिवासियों का इसी के माध्यम से परिचय हुआ था। उस समय भारत के छात्र साधारणतः मातृभाषा और अंगरेजी सोख कर ही ज्ञान मन्दिर की कु'जी पाने का पूरा अवसर पाते रहे। आज के भारत में अंगरेजी भाषा को हटाने के प्रयास को वह योगसूत्र काट फेंकने का प्रयास छोड़ कर और क्या कहा जाएगा ?

नेताओं की राजनैतिक सनक को पूरा करने के लिय छात्रों के सर पर भाषा का बोझ लादना किसी भी तरह युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। आज के पाकिस्तान के एक सिन्धी भाषी छात्र की बात लें। उसे कितनी भाषाए सीखनी होगी। पहले मातृभाषा सिन्धी, दूसरी विश्वभाषा अंगरेजी, तीसरी धर्मभाषा अरबी या फारसी,

चौथी राष्ट्र भाषा उर्दू या बंगला (अथवा अच्छी नौकरी पाने के लिए दोनों ही) अर्थात एक छात्र के सर पर पांच पांच भाषाए । छात्र ज्ञानार्जन करेगा या भाषाओं का बोझ ढोता फिरेगा ? किन्तु राष्ट्रीयता का (Nationalism का) झोंक जरा सा संयत करने मात्र से अनायास ही मातृभाषा और अंगरेजी को छोड़ कर बाकी भाषाओं को पाठ्यक्रम से हटाया जा सकता है। पहली दो भाषाओं के माध्यम से ही यदि वह ज्ञानार्जन करे या ज्ञान की भूख जगा सके तो बाद में ओर तीन हो क्यों अपने आग्रह से दस वीस भाषारों भी चाहे तो सीख सकता है। स्कूल या कालेज में भी वैकल्पिक विषय के रूप में जितनी अधिक भाषाएँ रहें उतना अच्छा ! इसके विरुद्ध किसी को कुछ आपत्ति नहीं हो सकती ।

यदि झूठी मर्यादा का भाव इस विश्व भाषा के पठन-पाठन में बाधक हो तो मानव समाज के लिए यह कुछ गौरव की बात नहीं। एक देश के लोग दूसरे देश के लोगों के लिए दुर्बोध्य होकर रहें यह अवस्था तो बाञ्छनीय नहीं कही जा सकती। फिर भी सूदूर भविष्य में लोंग अंगरेजी के बदले उस युग की आवश्यता के अनुरूप अन्य किसी भाषा को विश्व भाषा के रूप मैं चुन ले सकते है; क्योंकि अंगरेजी की भी चिरकाल तक एक ही अवस्था नहीं रहेगी।

बड़ों की राष्ट्रीयता, साम्प्रदायिकता या अन्य किसी वाद या 'इज्म' की सनक को पूरा करने का भार छोटों के सर पर लादना एक दम अन्याय है। आज के शिशु को अविध्य का कैसा नागरिक बनाया जाए एवं उन लोगों को कैसा बनाने के लिए कैसी शिक्षा देनी

आवश्यक है यह तो निश्चय ही बड़े लोग ही निश्चित करेंगे; 'किन्तु यह निश्चय करने में सनक या बड़े लोगों की सुख सुविधा को ही सारा महत्व नहीं दिया जा सकता। छोटों की सुख सुविधा की ओर भी ध्यान देना होगा ।

छात्र विद्‌यालय जाते हैं या परीक्षा देते हैं पास करने के लिए परीक्षकों की यह बात हमेशा ध्यान में रखनी होगी। सैकड़े इतने लोगों को पास कराना है इस तरह की सीमा बाँथ लेने से तो काम नहीं होगा। छात्र का ज्ञान कितना है, जानने की इच्छा उसमें कितनी है परीक्षक को तो यह देखना होगा। में बिन्दु दिया है कि नहीं, । का माथा काटा है कि नहीं या पान में कितना चुना कम है इसके पीछे यदि वे सिर पैर खपायें तो भी काम चलेगा ।

सूचीपत्र

शिक्षक या शिक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में इन बातों के अतिरिक्त ऐसी और भी दो चार बातें कहनी है जो पूर्णतया आदर्श के सम्बन्ध में हैं जिनके लिए शिक्षकों की सुविधा शिक्षा व्यवस्था की त्रुटि आदि की कोई बात नहीं सुनी जा सकती। जैसे छात्रों को ज्ञान वितरण करने के मनोमान की बात लें। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि शिक्षक छात्रों में बिना ज्ञानार्जन की इच्छा या चेष्टा जगाये ही जिस किसी तरह ही उनसे ठीक उत्तर पा लेना चाहते हैं। कहीं तो लेक्चर देकर ही अपनी जबाबदेही पूरी कर लेना चाहते हैं। कहना व्यर्थ है कि ये बातें अप्रिय सत्य है। पहले ऐसी हालत थी कि नहीं यह तो ऐतिहासिकों के विचार का विषय है। सम्भवतः आगे भी ऐसी अवस्था नहीं रहेगी; किन्तु आज जो अवस्था है उसमें तो यह मानना ही होगा। हो सकता है कुछ

शिक्षकों के इस शिक्षाव्रत के विरोधी आचरण के कारण सारे शिक्षक समाज को ही उपहास का पात्र होना पड़ता है। तब भी कहना पड़ेगा कि जो सच्चे शिक्षाव्रती हैं- जिनमें अपने बूते इच्छानुसार काम कर लेने या दूसरों से करा लेने की कुछ भी क्षमता है उन्हें इस विषय में मजबूत कदम बढ़ाना चाहिए । जो प्रत्यक्षरूप से शिक्षक का काम कर रहे हैं उनसे ही यह सम्भव है। स्कूल इन्स्पेक्टरों (विद्यालय निरीक्षकों से यह नहीं हो सकता। शिशुओं के मन में या किसी छात्र के मन में ज्ञान की भूख न जगाकर केवल कुनैन की गोली की तरह निगलवा देने की कोशिश से मानव समाज का वास्तविक कल्याण सम्मव नहीं ।

आदर्श की बात कहने के प्रसङ्ग में मन में एक बात और उठती है। वह है शिक्षकों के नैतिक चरित्र और

व्यवहार के विषय में। बहुतेरे शिक्षक छात्रों को मादक द्रव्यों के अपव्यवहार की बात क्लास में कह कर क्लास के बाहर आकर धुम्रपान करते हैं। ये सब अत्यन्त अशोभन दृष्टान्त है बल्कि मादक द्रव्य के अपव्यवहार की बात न कहते हुए यदि वे मादक द्रव्य सेवन करते तब सम्भब है इसका परिणाम उतना बुर नहीं होता ? किन्तु इस प्रकार के व्यवहार से स्वाभाविक रीति से छात्रों के मनमें उच्छृंखला को प्रश्रय मिलेगा। वे समझेंगे कि इनका व्यवहार तो निश्चय ही आरामदायक है; इसी लिए मास्टर साहब हम लोगों को इससे वंचित रखना चाहते हैं और अपने पूरा उपयोग करना चाहते हैं।

अनेक शिक्षा संस्थानों में शिक्षकों के कई दल रहते हैं। प्रत्येक दल के शिक्षक छात्रों को अपने-अपने दल में खींचने की कोशिश करते हैं। उनके सामने दूसरे दल के

शिक्षकों की निन्दा कर उनके मन में उन शिक्षकों के प्रति अश्रद्धा के भाव उत्पन्न करने की चेष्टा करते हैं। फलतः अन्त में छात्रों के मन में अनुशासन-हीनता का भाव अङ्कुरित होने लगता है। छात्रों की वत्त मान अनुशासन-हीनता देखकर लोगों को बड़ा अफसोस होता है, परन्तु यह निष्फल है; क्योंकि इन छात्रों को जिनसे अनुशासन की शिक्षा मिलती है यदि वे ही अपने कर्त्तव्य का पालन न करें तो इस अनुशासन-हीनता में छात्रों का दोष क्या है ? बहुतेरे शिक्षक या अध्यापक राजनीति में सक्रिय भाग लेते हैं और वे अपने भोले भाले आदर्शवादी तरुण विद्यार्थियों को, अपने व्यक्तिगत प्रभाव से अपना राजनैतिक उद्देश्य साधने के लिए यन्त्र के रूप में काम में लाते हैं। ऐसी अवस्था में छात्रों के अनुशासन की बात करना ही बेकार है। आज की राजनीति-दुनियां में जैसी राजनीति है वह परस्पर कीचड़ उछलाने के

अतिरिक्त और है क्या ? साधुता, सरलता तथा अनुशासन में से एक भी राजनीति के कक्ष में घुस नहीं सकते। वहाँ तो जैसे भी बन पड़े विरोधी दल पर आघात करना ही धर्म है। छात्रों की यह विशेष राजनीति पटुता उनकी अनुशासन-हीनता का सबसे बड़ा कारण है। बाकी सारे कारण गौण है और वे अर्थाश्रयी समाज व्यवस्था की त्रुटियों के कारण हैं। तब छात्रों में अनुशासन का भाव लाने के लिए शिक्षा व्यवस्था या अभिभावकों के आचरण की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

किसी भी कारण से क्यों न हो, जिन लोगों ने एक दिन छात्रों को राजनीति में उतारा, आज वे उन्हें राजनीति से अलग रहने के लिए कितना ही उपदेश क्यों न करे उसका कोई खास फायदा नहीं होगा। वर्त्तं मान अवस्था एक ऐसे स्तर पर पहुंच गई है जहां सूखे

उपदेश या आदेश से काम नही हो सकता। इसके लिए शिक्षा व्यवस्था की धारा में ही परिवत्तंन करना होगा। छात्र मनोविज्ञान समझ कर उपयुक्त शिक्षा के द्वारा ही उनमें अनुशासन का भाव जागृत किया जा सकता है।

विद्यालय जाने के पहले, पारिवारिक परिवेश के प्रभाव से शिशुओ की मानस दृष्टि भङ्गी एक विशेष प्रकार के सांचे में ढल चुकी रहतो है। अपनी आयु के बढ़ने के साथ विद्यालय में वे भला बुरा जितना जो कुछ भी सीखें, पर पारिवारिक प्रभाव से छुटकारा पाना उनके लिए बहुत कठिन है।

शिशु का मन अपरिपक्व होता है। वह पारिवारिक परिवेश की शिक्षा से जगत् को पहचानना सीखता हैं,

समझना सीखता हैं, भाव ग्रहण करने का सयोग पाता है, भावाभिव्यक्ति के लिए भाषा पढ़ता है। घर के गुरुजन उसे संसार को जैसा देखना सिखाते है, संसार का वे जिस रंग में रंग कर प्रस्तुत करते हैं, वह यन्त्र की तरह उसी को मानकर चलता है, उसे कोई दुविधा नहीं, कोई प्रतिवाद नहीं। इसलिए शिशु को दुनिया के सामने परिचित कराने का प्राथमिक उत्तरदायित्व उसके मां बाप या अभिभावक के ऊपर है। वे अपने इस दायित्व का जिस प्रकार एवं जितना निर्वाह करते हैं, बाद में समाज उस शिशु को उसी प्रकार एवं उतनी हो सम्पद् के रूप में देख पाता है। मुझे यह कहने में कोई दुविधा नहीं मालूम होती कि आज भी संसार में शिशु मन को ठीक तरह से गठित करने का विज्ञान वयस्को को ज्ञात नहीं हो सका है। प्राप्तवयस्क जनसाधारण की बात तो दूर रहे, जो शिक्षित, माजितरुचि के हैं, ऐसे

तथाकथित अधिकांश सभ्य लोग भी इस काम में या तो अज्ञ हैं या स्वेच्छा से उदासीन है। उनकी अज्ञता तो क्षम्य है; किन्तु क्या उनकी उदासीनता भी क्षम्य कही जाएगी ? जो परिवार शिशु को अपना आत्मीय समझ कर अपनाता है, उसे तो उसके शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक स्फुरण का प्रथम दायित्व लेना ही पड़ेगा। कहा जा सकता है कि शिक्षकों की समस्या की तरह ही साधारण लोगों के जीवन में भी बहुत तरह की

समस्यायें है; बल्कि असल में शिक्षकों की समस्या तो उस वृहत सामाजिक समस्या का अंशमात्र है। यह बात बिल्कुल ठीक है कि वस्तु तान्त्रिक जगत् में देश, काल, पात्र पर विजय पाने की एक दुरन्त चेष्टा दोख पड़ती है। यह प्रयात लोगों को घसीटता हुआ सामने की ओर ले जाना चाहता है। कल्याण हो या न हो मानो गति ही मूल्य मन्त्र हो गया है एवं इसके परिणामस्वरूप समाज

की भिन्न धाराए परस्पर यथायथरूप से सङ्गति रख कर आगे बढ़ नहीं पातीं । कोई तो खूब अग्रसर हो जाती है, कोई खूब पिछड़ जाती है। फलतः सामाजिक संरचना का कोई एक अंश दूसरे अंश से बहुत अधिक दूर हट जाता है या खूब निकट आ जाता है, जिससे कि समूची सामाजिक संरचना ही टूट रही है। घर के ऊपर का फुस तो ज्यों का त्यों है उसको छेद कर घर में बिजली का तार आ गया है। खाने को बासी भात और नमक मिल पाता है; पर पुराने चूल्हे के बदले बिजली का हीटर आ गया है। इसी प्रकार की अनेक असङ्गटियां सामाजिक जीवन में उपस्थित हैं। जीवन की विभिन्न धाराओं को केन्द्र कर मानसदेह में जिन भावों का अधिष्ठान होता है उनमें एक दूसरे का व्यवधान अस्वाभाविक रूप से बढ़ गया है। परिणामतः मन की स्वाभाविकता नष्ट हो गई है। किसी प्रकार भावहीन

यन्त्र के समान सत्ताओं को लेकर दिन काटना छोड़कर मनुष्य मानो और सब कुछ भूल गया है। ऐसी है समाज की अवस्था। इसीलिये आज अभिभावकगण सङ्गत भाव से कह सकते है, "इस घातप्रतिघात के साथ जूझते हमारी प्राणशक्ति पूर्णतया समाप्त हो गई है। अतः हृदय की कोमलता से यत्नपूर्वक शिशुमन को गढ़ने का सुयोग हम लोगों को कहां ? वास्तविकता की निर्दय कठोरता ने हमारे मन का सारा माधुर्य समस्त सुकुमार वृत्तियां चुस ली है। शिशुओ का क्या जतन करें ? उनके लिए खाना-कपड़ा तो जुटा नहीं पाते : उनके मनोविज्ञान के विषय में क्या सोचेगें ? और विचार करने लायक फुरसत भी कहां है ? शिशु को खेल कूद या आनन्द अनुष्ठान के माध्यम से ही घर बाहर शिक्षा देनी चाहिए; पर क्या वह हम लोगों के लिए सम्भव सा है ? हमें तो घर के मेधावी लड़कों को भो पढाई ताक पर रखकर नून

(नमक) तेल लाने के लिए बाजार दौड़ाना पड़ता है। जानते हैं यह अन्याय है, पर उपाय क्या है ? नौकर रखने लायक सामर्थ्य नहीं है। संभव है ये बातें सही हों पर इन पर यहां विचार करने की आवश्यकता नहीं। संसार के सम्बन्ध में शिशु में सुष्ठु समीचीन मनोबल निर्माण करने के लिए सब से आवश्यक है एक बलिष्ठ आदर्शवाद । और शिशु को वह आदर्श देने के लिए अभिभावक के लिए केवल दो बातों की - संयम और सुविचार की आवश्यकता है। पहले सुविचार की बात लें। शिशुमन को डर दिखाकर काम निकाल लेने की कोशिश केवल एक विशेष श्रेणी के शिक्षक ही करते हैं सो नहीं, इस दृष्टि से घर के लोगों का दोष तो उनसे भी अधिक है। वे शिशु को भय दिखाते हैं, उसके सामने झूट बोलते है, गाली गलौज, झगड़ाझाटी करते हैं बच्चों को ठगते हैं, डांटते हैं ओर इतने पर भी चाहते हैं कि उनका बच्चा

एक दिन समाज में गण्यमान्य हो, कुल का नाम ऊंचा करे। बच्चा सोना नहीं चाहता हो, दूध पीना नहीं चाहता हो, तो उसे बुड्या, मकुआ, भूत का डर दिखाया जाता है। बच्चा तो निर्भीक होता है, पर उसके मन में विभीषिका पैदा कर दी जाती है। संभव है इससे अभिभावकोंका कुछ सामयिक लाभ होता हो किन्तु बच्चों की जो क्षति होती है वह समूचे जीवन में पूरी नहीं की जा सकती। वही बच्चा जब शक्तिशाली युवक हो जाता है, उस समय भी उसके मन से बुड्या का डर निकल नहीं पाता भूत मानो उसके मन में स्थायी रूप से घर बसा लेता हैं। अभिभावक कहीं बाहर दूसरी जगह जा रहे हों, हों कही नाटक सिनेमा देखने या किसी जलसे में या कहीं निमन्त्रण में जा रहे हों, उसी समय यदि बच्चा भी जाने का हठ करे, तो लोग बेसिर पैर को भूठी बात कहते हैं, बच्चे को किसी तरह मुलाबा देकर

बाहर निकलते हैं और जब बच्चे को मालूम होता है कि उसे झूठ कहा गया है तो वह भी झूठ बोलना सीखता है, इतना ही नहीं मन की इच्छा या जो कुछ उसने किया हो, उसे अभिभावक से छिपाने के लिए धीरे-धीरे अधिकाधिक झूठ का आश्रय लेने लगता है।

अभिभावकगण बच्चों को अनेक तरह से ठगते बहलाते हैं। मीठी चीज को तीता, भाग्य को अभाग्य कह कर बच्चों को उन वस्तुओं से दूर रखना चाहते है; किन्तु मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति के अनुसार जब बच्चा निषेध की दीवार फांद कर झाँक कर देखता हैं तब उसे सचाई मालूम हो जाती है और वह समझने लगता है कि अब तक उसके अभिभावक उसे ठग रहे थे और तब वह अपने अभिभावक तथा सहपाठियों, साथियों को भी ठगना शुरू करता है। अतः ऐसा मालूम होता है

कि बच्चे झूठ बोलना या ठगविद्या का क ख ग घर के बड़े लोगों से ही सीखते हैं।

घर के बड़े लोगों में बहुत बार कई बातों को लेकर मतभेद हो जाया करता है। बहुत बार उनमें ऐसी सहिष्णु बुद्धि का अभाव दीख पड़ता है। दूसरों के मत की परवाह न कर हरेक अपना ही हाथ ऊपर रखना चाहता है और अनुचित जिद्द के कारण औचित्य ज्ञान खोकर निकृष्ट आचरण कर बैठता है। बच्चों के मन पर इसका मारात्मक प्रभाव पड़ता है। घर के लोगों से ही बच्चे जिद्द करना सीखते हैं। बच्चा जिसके पास अधिक रहता है उस में यदि हठ का भाव अधिक हो तो अवसर पाकर बच्चे के मन में भी अधिकतर हठ दीख पड़ता है और बहुत दिनों तक उसे यह मानसिक व्याधि के रूप में वहन करना पड़ता है। जहां सम्भव हो बच्चे को

अभिलाषा (यदि वह अनुचित न हो) पूरी कर देने से बच्चे को हठ करने का अवसर ही नहीं मिल सकेगा। घर के बड़े लोग सांसारिक दरिद्रता या दूसरे किसी कारण से जब मानसिक शक्ति खो बैठते है तब वे प्रायः ही कारण अकारण बच्चे-बच्चियों को डाँटते-फठकारते, मारते-पीटते हैं। परिणाम स्वरूप छोटे बच्चों की, बड़ों के ऊपर से श्रद्धा उठ जाना स्वाभाविक है। उनकी श्रद्धाहीनता पारिवारिक विश्वखला को और भी उग्ररूप से जागृत कर देती है। बड़ों की अशांति पर और दूसरी अशान्ति बढ़ जाती है। जिन अभिभावकों को मजदूर अथवा छोटे कर्मचारियों को ठीक से खटाना पड़ता 'है (जैसे-आपूति Supply विभाग, पुलिस विभाग के मध्यम या उच्चपदस्थ अधि-कारियों को) वे प्रायः ही मीठी बातें करना भूल सा जाते हैं। ऐसे बहुतेरे तो हुकुम चलाने की भाषा, बहुतेरे गाली गलौज की भाषा का व्यवहार करने

के अभ्यस्त हो जाते हैं। इसीलिए इनके घर के छोटे बच्चे बच्चियां भी संयत भाषा सीखने का अवसर नहीं पाते। अपने मित्रों, बन्धुवान्धवों में भी ये एक महामान्यता का (Superiority Complex) भाव लिए रहते हैं। इनके लिए चार-पांच लोगों के प्रेमभाव से एक सुन्दर सामाजिक परिवेश निर्माण करना असम्भव हो जाता है।

अभिभावक लोग यह कहेंगे कि आज के समस्याबहुल युग में उन्हें इतने और ऐसे-ऐसे धन्धों में फंसा रहना पड़ता है कि उनके लिए सब तरफ ध्यान रख कर चलना असम्भव है। पर तब भी मैं कहूंगा कि ऊपर जी त्रुटियां दिखाई गई हैं उन्हें सम्भाल कर चलना किसी बुद्धिमान अभिभावक के लिए असम्भव नहीं है। इन कत्र्तव्यों का पालन यदि वे न कर सकें सो कहना पड़ेगा कि वे समाज में रहकर समाज विरोधी मनोभाव को ही

बढ़ावा देते हैं। बच्चों के मन को अपराध करने की ओर उकसाते हैं। या पुलिस विभाग की परेशानी बढ़ाते हैं और सब से बड़ी बात तो यह है कि उनकी जरा सी सतर्कता के अभाव में एक मनुष्य देहधारी जीव सच्चे मनुष्य के रूप में अपना परिचय देने के अवसर से बंचित रह जाता है।

अभिभावकों तथा शिक्षकों के अतिरिक्त साहित्यिकों का भी शिशुशिक्षा की दृष्टि से दायित्व है। वास्तव में साहित्यिक भी एक प्रकार के शिक्षक है-वे हैं समाज शिक्षक ।

दूर का आकर्षण मनुष्य की मज्जा में समाया हुआ है। जो हाथों में आ जाता है उससे किसी की तृप्ति नहीं

होती। मन भरता है तो प्राण नहीं भरता इसीलिए सत्य से मायालोक अधिक मधुर होता है। साहित्य स्वप्न के माया-मुकुर में वास्तविकता का चित्र अङ्कित कर देते है और इसीलिए वह चित्र मानव मन को सहज ही आकृष्ट कर लेता है। इस स्वप्न का नशा बच्चों के मन में सब से अधिक होता है। उन्न वढ़ने के साथ-साथ

वास्तविकता के थपेड़े खाता-खाता, जैसे-जैसे वह

अभ्यस्त होता जाता है; वैसे-वैसे उसका यह नशा भी

मिटता जाता है। स्वप्न लोक के मुक्कुट को वह

वास्तविकता के निकट लाकर जीवन चित्र का प्रतिफल

देखना चाहता है। पर बच्चों के मन में तो ऐसी बात

नहीं रहती। वे स्वप्न के आकाश में इन्द्रधनुष की ओर अपने सोनचिरैया को उड़ा देना चाहते हैं चाँद और तारों को दोनों हाथों में खिलौने की तरह लेकर अनजान देश में उड़ जाना चाहते हैं और इसी आकाश-बिहार की धुन

में लोरी की स्वरमाधुरी में डूब कर दादी-नानी की गोद में निश्चित नींद लेने लगते है। बच्चों के इस विशेष लक्षण को अच्छी तरह समझ कर साहित्यिक कलम उठाते हैं। वे अनायास ही बच्चों का मन जीत लेते हैं और उनके हाथों गढ़े हुए बुन्नु मुन्नु सहज ही उनकी सिखाई हुई कहानियाँ, उनके उपदेश सिर नवा कर ग्रहण करते हैं। इसीलिए कह रहा था कि साहित्यिक समाज शिक्षक होते हैं। ये शिक्षक यदि अपने दायित्व की ओर सजग रहें तो घर की अशिक्षा रहते हुए भी बच्चों को उल्टे रास्ते से लौटाया जा सकता है। हल्के जासूसी उपन्यास या ऐडभेचर या एकदम जातीयता या साम्प्रदायिकता से भरी कहानियों की किताबें तो छोटी उम्र को आकर्षित करती है; पर उन्हें विचार-बुद्धि के क्षेत्र में धीरे धीरे दीवालिया बना देती हैं। सहज और चित्ताकर्षक भाषा में लिखी, महापुरुपों की जीवनी इन्हें

अच्छी प्रेरणा देती है। यहां महापुरुष से मेरा तात्पर्य ऐसे लोगों से 'ही है, जो पूरे मानव समाज के लिए हो विचार करते रहे हैं। महाभारतीय, महा-अङ्गरेज महारूसी या महाअमेरिकन की बात नहीं करता; मानव समाज में अपने को मनुष्य के रूप में परिचय देने वालों का बड़ा अभाव है। कोई संस्कारवश, कोई डर और कोई तो सब कुछ जान बूझ कर भी स्वार्थवश मानव समाज को टुकड़े-टुकड़ों में बाटना अच्छा समझते है। वे अपनी यह मानसिक त्रुटि साहित्य के माध्यम से बच्चो के मन में भी संक्रमित करना चाहते हैं, जिससे कि बाद में वे शिश भी उनका बोझा ढोते चल सकें। जीवनीलेखक साहित्यिकों को इस प्रकार के अमानुषों के (अर्थात जो अपने को मनुष्य न कह कर और कुछ कह परिचय देते है) प्रभाव से यत्न पूर्वक अपनी कलम को बचाकर रखना होगा। आज के युग में बहुतेरे देशविशेष

साम्प्रदायिक अथवा विशेष अर्थनैतिक मतवाद का प्रचार कर जिस असहिष्णुता को प्रश्रय दे रहे हैं वह कुसाहित्य के माध्यम से बच्चों के मन पर भी असर डाल रही है। ये बच्चे बाद में विशेष सम्प्रदाय अथवा विशेष मतवाद के आधार पर गठित दल विशेष के लिए तो सम्भव हैं, सम्पद् सिद्ध होगे किन्तु उनमें मनुष्यता का कितना परिचय मिलेगा ?

रेडियों के द्वारा शिक्षामूलक कहानियो के प्रसारित करने का बड़ा अच्छा सुयोग है। रेडियो के कार्यकर्ता बालमनोविज्ञान में पटु साहित्यिकों के द्वारा चित्ताकर्षक एवं शिक्षाप्रद कहानियाँ लिखवा कर सहज ही बच्चों के कानों तक, कानों ही क्यों, मन तक पहुंचा सकते हैं। सब अभिभावक अपने घर रेडियो सेट को व्यवस्था नहीं कर सकते; तो विद्यालय में किसी निश्चित समय पर

या पार्क में अथवा खेल-कूद के मैदान में रेडियों के द्‌वारा इस प्रकार के शिक्षामूलक प्रचार की व्यवस्था की जा सकती है। इसके पूर्व अनुच्छेद में जिस समस्या की चर्चा की गई है वह रह हो जाती है अर्थात् यदि रेडियो विभाग किसी खास दल की मुट्‌ठी में हो तो वह मनुष्य निर्माण की अपेक्षा दलावशेष का झंडा ऊंचा करने वाले लोग तैयार करने का माध्यम हो जायगा। पर इस प्रकार की सम्भावना को दूर करने का उपाय भी है। सुसंस्कृत अराजनैतिक, शिक्षाविदों का एक बोर्ड बनाकर उसके हाथों में रेडियो विभाग के परिचालन का भार दिया जा सकता है।

कुछ दिन पहले तक संसार के अनेक देशों के शिक्षितवर्ग का अभियोग रहा है कि उनके देश के नेता कहे जाने वाले व्यक्ति या महापुरुषों की स्मृतिपूजा ठीक

नहीं होती; अर्थात् उनका देश इन सब स्मरण करने योग्य, वरेण्य मनीषियो को भूल कर क्रमशः आदर्शहीन हो चला है। संभव है उनकी इस बात में कुछ सार हो। पर उनकी यह स्मृति पूजा या जयन्तो जिस ढंग से मनाई जाती है उससे उसका मूल्य कानी कौड़ी भी नहीं रह जाता। मोटा चन्दा पाने की आशा से सभाओं का सभापतित्व करने के लिए साधारणतः कोई आदर्शहीन चोट्टामल डाकूराम बटपरिया को चुना जाता है। वक्ताओं में एक के बाद दूसरे, मार्जित साहित्यिक भाषा में गाल बजाते चले जाते हैं और वक्ता के अन्त में प्रायः सभी यही कहते है कि अमुक महापुरुष हम लोगों को जो अवदान दे गए है उस पर नये सिरे से विचार करने का दिन आ गया है। केवल व्याख्यान देने या सुनने से हम लोगों का काम नही चलेगा। उन्हें कार्यरूप में परिणत करने से ही उनकी जयन्ती सार्थक होगी।

सूचीपत्र

व्याख्यान के बाद आस-पास के लोगों से कानाफूसी कर पूछते है- "केसा रहा।" अथात् वे भी आदर्श को व्यवहारिक रूप देने के उद्देश्य से नहीं बोल रहे थे- बोल रहे थे प्रशंसा पाने के लिए । ये जयन्तियाँ एकदम निःसार है, ऐसा भी मैं नहीं कहता; कहूंगा भी नहीं परन्तु यदि इन लोगों को दिवंगत मनीषी के आदर्श को सचमुच व्यावहारिक रूप देने की इच्छा हो तो इन्हें चाहिये कि वे व्याख्याताओं की वक्तृता में उस आदर्श को सीमित करने की अपेक्षा अनुष्ठान में ही उन्हें व्यापकभाव से साधारण जनता और विशेषकर बच्चों के सम्मुख प्रस्तुत करें। चित्र तथा नाटको के द्वारा यह बात अच्छी तरह हो सकती है। रामायण की पुस्तक से चित्र-रामायण अधिक चित्ताकर्षक होगा, शिक्षाप्रद भी होगा। जो लिखना पढ़ना नहीं जानते वे भी चित्र की भाषा समझ सकते है। चित्र के बाद नाटक की बात

आती। सुलिखित और सुन्दर रूप से अभिनीत नाटक का प्रत्येक चरित्र जीवन्त रूप से दर्शक को बोधगम्य होता है। प्रिय नेता, प्रिय मनीषी, साधारण जनता और विशेष कर बच्चों के लिए प्रियतर होकर अपना संदेश देते है। वे अपने मन के गुप्तद्वार अर्गला खोल कर उनसे भाव का अबोध लेन-देन करते हैं। इसीलिए कह रहा था कि स्वाभाविक शिक्षा के प्रसार के लिए सुलिखित और सुअभिनीत नाटक का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है; चाहे शिक्षार्थी किसी उम्र के क्यों न हों। आज सब उन्न के लोगों में सिनेमा के प्रति खूब रुचि है। अतः स्वभावतया सिनेमा विज्ञान की क्रमश उन्नति होती जाएगी। सिनेमा के द्वारा जनसम्पर्क की यह सुविधा शिक्षा के हेतु बड़ी सफलता के साथ काम में लाई जा सकती है। मनुष्य के मन के कोने में छिपी पशुता को प्रसन्न करने के लिए मनुष्य हीनवृत्तियों की ओर ही अधिक झुकता है। पर

उन्नत शिक्षा तथा सुसंस्कृत परिवेश इस भीतर की पशुता को वश में लाने में सहायक होता है। यदि सुसंस्कृत परिवेश हो एवं उन्नत शिक्षा हो तो मनुष्य की वृतियाँ आज्ञा पालक भृत्य के समान विनीत हो जाती हैं। किन्तु इसक लिए पहले स्तर में पशु वृत्तितों के विरोध जो संग्राम के लिए कमर कसना पड़ता है वह कुछ आराम देह नहीं होता। इसीलिए किसी मनुष्य को वश में करने के लिए बुद्धिमान शोषक उसकी पशुता को उद्दीप्त करके काम निकालना चाहता है। सिनेमा के क्षेत्र में भी यही बात है। सिनेमा का कारबार थोड़े से पूंजीवादी व्यवसायियों के हाथ में है जो बाजार की रुचि देखकर तदनुकूल चित्र बनाते हैं। जो भाव, भाषा या चित्रहीन पशुभाव को अच्छी तरह उभाड़ सके उसी की ओर साधारण जनता स्वाभाविक नियम से झुकेगी। ऐसे भाव, भाषा या चित्रों की भीड़ में आदर्शवादी का आदर्श

किसी भी समय आच्छन्न हो जा सकता है। इसीलिए केवल व्यवसायिक उद्देश्य से जो लोग चित्र बनाते है उनके लिए मनुष्य के मन की इस दुर्बलता से फायदा उठाने की कोशिश करना स्वाभाविक है। और यही होता है। प्राप्त वयस्कों के लिए जो चित्र रहते हैं उनमें अवयस्कों की भीड़ ही ज्यादा देखी जाती हैं। अनेक बार 'केवल प्राप्त बयस्कों के लिए' (for Adults only) ऐसे चित्ताकर्षक ढंग से लिखा रहता है जिससे अप्राप्तवयस्क वह चित्र देखने के लिए खूब प्रलुव्ब हो उठते है। समाज शिक्षा की दृष्टि से ऐसी व्यवस्था को अधिक दिन चलने नहीं दिया जा सकता। सिनेमा को यदि समाज के लिए कल्याण-कर होना हो तो उसे गैर सरकारी सांस्कृतिक प्रतिष्ठान के हाथों सौंपना होगी, न कि व्यवसायी लोगों और सरकार के हाथों में; क्योंकि जिन देशों में सिनेमा प्रतिष्ठान सरकार के नियन्त्रण में है, वहाँ शिक्षा प्रचार

की अपेक्षा पार्टी के प्रचार के लिए सिनेमा का उपयोग करने की सम्भावना ही अधिक है। केवल प्रचार के लिए सिनेमा का उपयोग करने में एक और बड़ी असुविधा है। यदि मुख्य उद्देश्य प्रचार हो तो नाटक या साहित्य का कोई माधुर्य व्यञ्जित नहीं होगा, होगा केवल मुह में भोंपू लगाकर जोर-जोर से बोला हुआ पार्टी-प्रचार मात्र ।

अभिज्ञ और विदग्ध परिचालक को स्वतन्त्र रूप से कल्याणकर चित्र बनाने की सुविधा देने से परिणाम बुरा नहीं होता और वह एक साथ आनन्द और शिक्षा दोनों देने में समर्थ होता है। थोड़े दिन पूर्व पश्चिम बङ्गाल सरकार के द्वारा प्रायोजित एक चित्र इसका अच्छा उदाहरण है ।

इस परिच्छेद के उपसंहार में यह कहना आवश्यक है कि शिशुओ के मन में पूर्ण मानवता का बीज बोने या उनके मन के क्षुद्र मानवतरु को ठीक-ठीक पत्र, पुष्प, फल से समृद्ध करने के लिए जिन शिक्षक नाटाकार, अभिनेता कहानीकार या रेडियों कलाकार की सहायता नितान्त आवश्यक है, वे अपने मन को संसार की दुश्चिन्ताओं से मुक्त रख कर अपनी सारी शक्ति, सामर्थ्य ठीक तरह से काम में लगा सकें ऐसी उपयुक्तव्यवस्था समाज को करनी ही होगी। उनके वायित्व की बार-बार चर्चा होगी; पर उनकी समस्याओं की तरफ नजर उठा कर देखा नहीं जाएगा, इस प्रकार का भाव रखकर बैठे रहने से कोई काम नहीं होगा।

सामाजिक सुविचार

विभिन्न श्रेणी के लोगों को मिलाकर समाज का संगठन होता है। समूची सामाजिक संरचना को देखने पर इनको विभिन्नता का विशेष महत्व प्रतीत होता हैं। यदि यह विभिन्नता न होती तो मानव समाज की आज की सभ्यता की बात तो दूर रहे प्रस्तर युग भी न आ पाता। अतः जिस विचित्रता के स्पर्श से उन्मेष की सम्भावना प्रकट होती है उसके प्रत्येक भाव प्रत्येक रूप प्रत्येक रङ्ग को समान दृष्टि से देखना होगा, समान रूप से स्वीकार करना होगा। यदि ऐसा नहीं किया जाय तो समाजदेह का जो अङ्ग उस भाव रूप, यः रङ्ग से पुष्ट हुआ रहेगा वह उसकी अवज्ञा से सूख जाएगा। जो सामाजिक बातों की गम्भीर चिन्ता करते है, केवल

उनका मुख देखकर मैं यह बात नहीं कह रहा हूँ; समाज के प्रत्येक मनुष्य को ध्यान में रखकर मुझे कहना पड़ेगा जिससे कोई भी अपने कर्म, भाव या भाषा में कभी भी बिचार को प्रोत्साहन न दे। किसी विशेष काम में या जीवन के किसी खास क्षेत्र में कोई खास आदमी या खास श्रेणी के लोगों में यदि कोई शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, नैतिक या आध्यात्मिक दुर्बलता दीख पड़े; तो बाकी लोगों का कर्तव्य है कि वे अपने हृदय की सारी मधुरता उड़ेल कर वह दुर्बलता दूर करें। किन्तु स्वाभाविक मानवता या स्वाभाविक आध्यात्म-दृष्टि के अभाव में कोई लोग ठीक इसका उल्टा ही करते हैं। कहीं किसी में दुर्बलता का छिद्र दीख पड़ा कि बस, सुविधावादी आदमी उसी फौक में अपनी सींग घुसाकर उसके प्राणों को सारी खड़ी फसल खा डालना

चाहता है। दुर्बल की व्यथा या मर्मवेदना की बात पर विचार करना ही अपनी दूर्बलता मालूम होती है ।

अधिकांश जीवों की तरह मनुष्य समाज में भी स्त्रियाँ पुरुषों से शारीरिक दृष्टि से दुर्बल हैं। स्नायुओं की दुर्बलता के कारण उनका मन भी कुछ दुर्बल ही होता हैं। किन्तु इतने पर भी समाज के लिए उनका मूल्य पुरुषों से एक पैसा भी कम नहीं। पर स्वार्थी लोग इस मूल्य-बोध की उपेआ कर स्त्रियों की दूर्बलता के सुयोग का पूरा-पूरा लाभ उठाते चले आ रहे हैं। मुँह से मातृ जाति का नाम घोषित करने पर भी असल में ठीक घर में पाली हुई गाय भेंड़ के समान उनकी अवस्था बना रखी है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में या तो उनको बहुत थोड़े अधिकार दिए है अथवा उनके अधिकारों का उपयोग एकदम पुरुयों की मानमानी के ऊपर निर्भर है।

सृष्टि के प्रथम उषाकाल में आदिम मनुश्यों में ऐसी अवस्था नहीं थी। सामाजिक शुचिता की आड़ में नारी को बन्दिनी रख कर पुरुषों के एकाधिपत्य के विस्तार की कूटनैतिक प्रवृत्ति उस समय के लोगों के दिमाग में नहीं घुस पाई थी। इसलिए आज भी स्वाधीनता की दृष्टि से आदिम जातियों में उदारता का अभाव नहीं दीखता । स्वभाव से मनुष्य दुराचारी नहीं होता। अधिकांश लोग शान्तिप्रिय होते हैं। इसीलिए व्यक्तिगत शुचिता के प्रति सब लोगों में एक झोंक भी रहता हैं और व्यष्टि मन का यह झुकाव ही समष्टि मन की शुचिता का कारण होता है। इसलिए हम देखते है कि नारी-स्वतन्त्रता रहने पर भी तथाकथित अनग्रप्तर जातियों में जितनी सामाजिक शुचिता है, तथाकथित उन्नत जातियों में उसका शतांश भी नहीं। स्वाधीनता का जबर्दस्ती दमन करने के फलस्वरूप मनुष्य के मन

में विरोधी प्रतिक्रिया दीख पड़ती है जिससे कि शुचिता तो बहुत थोड़े समय में ही छूमन्तर हो जाती है। तथाकथित उन्नत समाजों में आज की सामाजिक शुचिता के अभाव का अन्यतम कारण यही है। बड़ी-बड़ी बातों की आड़ में या दिखावटो धर्म-कर्म की आड़ में इस अशुचिता को ढक देने की चेष्टा से ससाज का कोई वास्तविक लाभ नहीं होने का। सान्त्वना के झूठे शब्द कहकर या परलोक में स्वर्ग सुख का प्रलोभन देकर जो इह लोक में नारी को पुरुषों की दासी बनाकर रखना चाहते है वे समझ नहीं पाते कि उनकी सान्त्वना या उनके स्वर्ग का प्रलोभन नारी को जड़ बनाकर रखने में या पुरुषों की दासो बनाकर रखने में, सम्भव है, सहायक हो पर इनसे मनुष्य समाज का सच्चा हित नहीं होगा; क्योंकि समाज के पचास प्रतिशत लोग यदि कुसंस्कार में फंसे रहें, जड़ बने रहें तो समाज के बाकी पचास

प्रतिशत लोगों को आगे बढ़ने के लिए इन जड़ो का बोझा ढोते हुए ही अपनी गति बढ़ानी होगी। व्यक्तिगत जीवन में नारी और पुरुष दोनों को समान रूप से शुचिता की आवश्यकता है और इस आवश्यकता की पूत्ति के लिए सच्ची अध्यात्म-दृष्टि चाहिए। नारी या पुरुष दोनों में से किसी के प्रति अविचार करने से यह प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता ।

मनुष्य मात्र को यह समझना चाहिए कि किसी निर्माण के लिए अथवा सुरक्षा के लिए उसके प्रत्येक अङ्ग प्रत्यङ्ग में एक निविढ़ सहयोगितामूलक आचरण की आवश्यकता होती है। मनुष्य जड़ नहीं अतः उसका सामवायिक संगठन केवल सहयोगिता पर ही नहीं टिका रहता, इस सहयोगिता में भी एक प्रकार की विशेषता रहती है। और वह विशेषता यह है कि यह सहयोगिता

स्वामी और दास के सम्वन्ध से नहीं आती। वह आती है स्वाधीन मनुष्य के सहृदय पूर्णता परिवेश से । That should be a co-ordinated co-operation and not sub-ordinated one. नारी के प्रति आज तक कैसा आचरण होता आया है। यह बात विल्कुल ठीक है कि कई अवस्थाओं में योग्यता के अभाव के कारण नारियाँ धीरे-धीरे अपने अधिकार या स्वाधीनता खो बठी है और इसीलिए जो विशेष विशेष योग्यताओं को ही अधिकार पाने का मापदण्ड मानते हैं, नारी को बिना पैसे की खरीदी हुई दासी के रूप में देखना चाहते हैं। किन्तु नारियाँ जो अपना अधिकार खो बैठी है वह क्या पूर्णतया उनकी अयोग्यता के ही कारण हैं? इसमें उद्वेलित हृदयवृत्ति का क्या कोइ हाथ नहीं ? प्राणों के आवेग से क्या वे अपने क्षुद्र स्वार्थ की उपेक्षा कर धीरे-धीरे अपना सब कुछ यहाँ तक कि सामाजिक प्रतिष्ठा

का मोह भी अपने प्रति पुत्र भाई के हाथों नहीं सौंप देती ? जो मनुष्यों का समाज है, पशुओं का नहीं, क्या उसे यह उचित नहीं कि वह इस हृदय-वृत्ति का उचित मान करे ? घर में हठात् किसी अतिथि के आने पर किसके हिस्से का भाग अतिथि को खिलाया जाता है ? खाने पीने की कोई अच्छी चीज बनने पर सबसे पहले कौन अपने को वंचित करता है? कौन अपने पिता के घर के भाग का मोह छोड़कर (कानून चाहे जो भी कहे) दूसरे का घर सम्हालने के लिए जाता है ? ये बातें क्या पृथ्वी की अधिकांश नारियों के विषय में प्रयोज्य नहीं हैं? मैं यह नहीं कहता कि पुरुष तो साधारण आदमी हैं और नारी देवी। नारी को देवी नहीं मानवी समझकर ही उसकी हृदय वृत्ति की विशेषताओं की बात कह रहा हूँ। पति के कष्ट में पत्नी उसकी जिस प्रकार सेवा करती है; पत्नी की अस्वस्थता में पुरुष क्या उतनी सेवा करता

है? और नारी की उस महत्वपूर्ण हृदयवृत्ति का सुयोग लेकर पुरुष यदि असहाय विधवा का पुविवाह बन्द कर देना चाहे, उसे समझाना चाहे कि मृत्यु के बाद तुम मृत पति के पास ही पहुँच जाओगी तुम्हारा क्या दूसरा विवाह हो सकता है ? - तो क्या यह उचित होगा, उसके प्रति न्याय होगा ? छी छी ! सम्भव ऐसी बातें भाव प्रवण नारी को और भी भावुक बना दें; मृत्यु के बाद अपने स्वामो की प्रेतात्मा के साथ पुर्नामिलन की आशा में सम्भव है वह सारा जीवन कुच्छ्र साधना, एकादशी का उपवास करती रहे परं जो लोग उनके लिए ऐसा विधान बनाकर उन्हें जवर्दस्ती एक कपोलकल्पित भाव के अधीन रखना चाहते हैं क्या वे विवेक विरोधी काम नहीं करते ? पहले तो स्वर्ग नरक की बात ही एकदम आधारहीन कल्पना है। वे पुराणकार के दिमाग में गजगज करती रही। युक्ति की दृढ़ भूमि पर अपनी खूंटी

गाड़ने का अधिकार उन्हें कभी नहीं मिल पाया। फिर भी मूर्तों को खुश करने के लिए यदि मान भी लें कि स्वर्ग नरक नाम की कोई चीज है; तो भी एक प्रश्न करूंगा। यदि दुराचारी पति की प्रतात्या नरक में आकर साँढ़ होकर मैदान में चरती रहे तो क्या धार्मिक पत्नी भी देहान्त के बाद नरक में जाकर गाय-गोरू होकर उसके आस-पास चरती फिरेगी ?

खैर इन अवान्तर कथाओं को न बढ़ाना ही अच्छा है। मेरी बात का सारांश यही है कि स्त्रियों की सरलता या निर्बुद्धिता का जो लोग अनुचित लाभ उठाते हैं, वे मनुष्य देहधारी पिशाच है और किसी के त्याग के आदर्श' से अनुप्राणित हृदयवृत्ति का सुयोग पाकर उन्हें ठगने बाले पिशाचाधम हैं।

सूचीपत्र

संग्राम के द्वारा स्वाधीनता की प्रतिष्ठा होती है। स्वाधीनता दान में दी नहीं जाती। स्वाधीनता कोई किसी के हाथों सौंपता नहीं। स्वाधीनता है जन्म सिद्ध अधिकार । नारी ने आज जो अधिकार खो दिया है, पृथ्वी के अधिकांश देशों में, कम से कम, जो अधिकार छिना हुआ प्रतीत होता है, ठीक-ठीक सामाजिक मनस्तात्त्विक विश्लेषण (socio-psycho Analysis) करने पर कहना पड़ेगा कि स्त्रियों ने अपनीं स्वाधीनता खोई नहीं है उन्होंने पुरुषों पर विश्वास करके उनके हाथों अपना भाग्य सौंप दिया है। इसीलिए एक वर्ग की तथाकथित पण्डितम्मन्या स्त्रियाँ जब अपनी सन्तान को दाई या आया के पास छोड़कर अपने पति के द्वारा उपार्जित धन से खरीदी हुई मोटर पर चढ़कर सभा समितियों में स्त्री स्वाधीनता पर लम्बी चौंड़ी वक्तृताए झाड़ती फिरती है तो हँसी आती है। सच्ची बात तो यह

है कि इसमें अपने अधिकार छीनने की जब कोई बात ही नहीं तब उसे लेकर कोई ट्रेड यूनियन के आधार पर आन्दोलन चलाने की बात ही कहाँ ? इसका सारा का सारा उत्तरदायित्व पुरुषों पर है। इसके लिए यदि कोई आन्दोलन चलाना ही हो, तो वह पुरुषों को ही चलाना होगा। अपने को असहाय समझ कर या हृदयवृत्ति की पुकार पर स्त्रितों ने एक दिन जो अधिकार उनके हाथों सौंप दिया था उन्हें स्त्रियों की आवश्यकता समझकर धीरे-धीरे उनके हाथों लौटा देना पुरुषों का ही तो कत्र्तव्य है ।

पर यह याद रखना होगा कि स्वाधीनता और स्वेच्छाचारिता एक बात नहीं है। स्त्री स्वाधीनता अच्छी बात है; पर उसके नाम पर स्वेच्छाचारिता को प्रश्रय नहीं दिया जा सकता। स्वेछाचारिता चाहे पुरुषों की हो

या स्त्रियों की हो सामाजिक संरचना को थोड़े दिनों में ही तीन तेरह कर दे सकतो हैं। इसीलिए जो स्त्री स्वाधीनता की अधिक चर्चा करते है, उन्हें पहले ही इस सम्भाव्य स्वाधीनता का रूप अच्छी प्रकार समझ लेना चाहिए । ।

किसी सहज सत्य को मान्यता देने के समय भावुकता को जरा भी प्रश्रय नहीं दिया जा सकता । मानवता के आधार पर स्थित युक्तिवाद छोड़कर वहाँ और कुछ भी ग्रहण करने योग्य नहीं। प्रकृति की सन्तान होने के नाते जिन प्रकाश, वायु मिट्‌टी, जल आदि को पुरुष अपना भोग्य समझता है उनका अबाध अधिकार स्त्रियों को भो देना होगा। यथार्थ में यह अधिकार देना नहीं; अधिकार मान लेना है। किन्तु यह अधिकार स्वीकार कर लेने में यदि भावुकता आ जाए तो

समाज की सामूहिक क्षति की सम्भावना होगी।

दायाधिकार की बात लें। इस विषय में ससार में जगह-जगह पर अलंग मत है। कहीं पुरुषों को बञ्चित कर सारे अधिकार स्त्रियों को दिए गए हैं, वही पुरुष और स्त्री को सम्पत्ति में समान रूप से मालिकाना अधिकार दिए है; तो कहीं स्त्रियों को पुरुयों के प्रसाद के चरणामृत का छींटा मात्र देकर असल में सब कुछ पुरुषों के हाथ में रख्न दिया गया है। इन व्यवस्थाओं में युक्तिवाद या मानवता की अपेक्षा प्रभाव बनाए रखने या अपनी प्रधानता सुरक्षित रखने की अपचेष्टा ही प्रमुख रूप से प्रकट होती है। यथार्थ में इस सम्बन्ध में किसी सिद्धान्त पर पहुंचने के लिए मूलनीति होनी चाहिए किसी की वञ्चित न करना, स्त्री पुरुष को दायाधिकार मे बराबर सुयोग देना और इस प्रकार कानून बनाना जिससे कि सम्पत्ति का परिचालन, या रक्षा अच्छी तरह

हो सके एवं पारिवारिक अशान्ति की संभावना भी कम हो। अधिकांश देशों में पितृकुल है। मातृकुल व्यवस्था की अपेक्षा पितृकुल व्यवस्था कुछ सुविधाजनक है। इसके दो प्रधान कारण हैं। किसी सन्तान के लिए माता का निर्धारण जितना आसान है पिता का उतना आसान नहीं । खन का प्रत्यक्ष सन्बन्ध न होने पर पिता की अपेक्षा माता की ममता ही अधिक होती है। ऐसी अवस्था में पिता का उचित उत्तरदायित्त्व बोध कराने के लिए पितृकुल व्यवस्था ही अधिक उपादेय है; क्योंकि इससे सन्तान के जन्म का परिलय अनजान रहने की सभावना नहीं रहेगी। और परिस्थिति के दबाव से (मनुष्य को छोड़ कर दूसरे प्राणियों में इस प्रकार का दबाव न रेहने के कारण पिता अधिकतर अपनी सन्तान के लिए कोई दायित्व नहीं लेता।) सन्तान के प्रतिपालन का भार उठाने के लिए बाध्य होने के कारण पिता का

पारिवारिक व्यवस्था को ठीक रखने के लिए चेष्टा करनी होती है। पितृकुल की दूसरी सुविधा पहली की ही पुरक है। इस व्यवस्था में पिता के साथ सन्तान का सम्बन्ध अज्ञात नहीं रहने के कारण स्वाभाविकरूप से उसके लालन पालन के लिए माता अपने को नितान्त असहाय नहीं पाती। स्त्रियों का शारीरिक और मानसिक गठन जैसा होता है, उससे उनके लिए सन्तान पालन की पूरी योग्यता रहने पर भी बच्चों को सब तरह से पालपोस कर बड़ा करना उनके लिए अन्न, वस्त्र, शिक्षा, चिकित्सा आदि का इन्तजाम करना असुविधाजनक है और साथ ही बच्चों को उनके पास रखना ही होगा, नहीं तो बच्चों का बचना भी मुश्किल है। इसलिए अन्नवस्त्र आदि का भार स्त्री के बदले पुरुष उठाये और स्त्री अपनी सन्तान का लालन-पालन करती हुई यदि उसके लिए सम्भव और आवश्यकता भी हो तो घर पर रह कर

या घर के बाहर मिहनत करके अर्थोपार्जन करे तो इससे उसकी सन्तान को या समाज को कोई खास असुविधा नहीं होगी। जो लोग नारी को हाँड़ी-पथरी लेकर ही सारी जिन्दगी काटने की सलाह देते हैं, मैं उनके इस सुविचार (१) का समर्थन नहीं कर सकता। यह वास्तविक धर्म के विरुद्ध है। आवश्यकता पड़ने पर उन्हें बहुत बार इस नीति (!) को ताक पर रख देना पड़ता है। मुट्ठी भर धनी या उच्च मध्यवित्त लोगों के लिए इस नीति को मानकर चलना सम्भव हो तो हो; पर निर्धन या मजदूर वर्ग के लिए यह व्यवस्था कानी कौड़ी के मोल की भी नहीं। जहाँ के लोग मुँह से समानाधिकार या नारी स्वाधीनता की लम्बी-चौड़ी बातें करते है; घर असल मे स्त्रियों को पर्दा या बुर्का से ढांप - पोत कर रखते है वहां भी देखा जाता है कि गरीबों की घरनी अपने पति के साथ हाट बाजार में खरीद बिक्री करती हैं या खेतखम्हार

में या कोयले की खान में हाथ बढ़ा कर हल्के काम अपने लिए ले लेती है, चिक के पीछे पर्दे की बीबी बन कर बैठने से तो उनका काम चलने से रहा। पर जीवन में सर्वत्र समान अधिकार देने के लिए बहुत लोग जबर्दस्ती स्त्री को स्त्री धर्म विरोधी गुरुतर शारीरिक और मानसिक मेहनत के कामों बें लगाना चाहते हैं। ऐसी भावना अत्यन्त दूषित एवं त्रुटिपूर्ण है। यह तो मानना हो पड़ेगा कि स्त्रियों में शारीरिक और स्नायुगत शक्ति पुरुषों से कम होती है। अतः दोनों का कर्मक्षेत्र हूबहू एक नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त शारीरिक कारण से महीने के तीसो दिन स्त्री एक समान काम नहीं कर सकती। गर्भावस्था में तथा प्रसव के बाद उसकी काम करने की शक्ति बहुत कम हो जाती है। इस तथ्य को भूलने से काम नहीं चलेगा । भावुकता में आकर बहुत लोग समझते हैं, दो-चार स्त्रियों को पालियामेंट की

सदस्या या मन्त्री बना देना ही समानाधिकार या नारी प्रगति का उत्कृष्ट उदाहरण होगा। क्या यह मनोभाव ठीक है ! अधिकार स्वीकार कर लेना या प्रगति को त्वरान्वित करना ही यदि उद्देश्य हो तो इस प्रकार के भाव लेकर योग्य की उपेक्षा करने से क्या समुची गोष्ठी या समाज क्षतिग्रस्त न होगा ! अधिकार स्वीकार कर लेना तो कानूनी तथा सामाजिक मनोवैज्ञानिक बात हुई और प्रगति को त्वरान्वित करने के लिए द्रुत शिक्षा व्यवस्था ही एकमात्र मार्ग है। इसीलिए किस देश में महिला मन्त्री हुई है या राष्ट्रदूत हुई है यह देखकर उस देश की स्त्रियों की सच्ची मर्यादा निर्धारित नहीं हो सकती। समाज में स्त्रियों की मर्यादा की उन्नति इतनी सस्ती और सहज नहीं है ।

मातृकुल से पितृकुल युक्ति के आधार पर यदि श्रेष्ठ है; तो सम्पत्ति का उत्तराधिकार उसी धाराप्रवाह से चलना उचित है। अवश्य ही दायाधिकार का विधान बनाने के समय विशेष सतर्क दृष्टि रखनी चाहिए जिससे कि पितृ सत्तात्मक कुल व्यवस्था के लिए ऐसा कुछ न कर बैठे जिससे कि स्त्री को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए पति या देवर भैसुर के घर दासी वृत्ति करने को बाध्य होना पड़े; अर्थात् समानाधि हार के आधार पर स्त्रियों को भाग दखल करने का अधिकार मानकर उत्तरा-धिकार का कानून पितृसत्तात्मक कुछ व्यवस्था के अनुरूप चलाया जा सकता है।

आज विभिन्न देशों में प्रचलित तिलकदहेज की प्रथा नारी समाज के प्रति अनुदारता और अविवेक पूर्ण व्यवहार समझी जाती है। किन्तु बात ऐसी नहीं है।

तिलक दहेज की प्रथा में नारी के प्रति सुविचार की बात ही नहीं उठती। यह मुख्यतः आर्थिक समस्या है और गौणरूप से और भी दो एक कारण हो सकते हैं। जहाँ स्त्रियाँ अर्थोपार्जन नहीं करती; वहाँ वे विवाह के बाद पति के घर जाकर बोझ जन कर रहती हैं। इसीलिए विवाह के समय वरपक्ष कन्यापक्ष से शेष जीवन के भोजन वस्त्रादि के निमित्त मोटी रकम एठ लेता है। दहेज प्रथा वास्तव में इसी रूप में है। ठीक इसी प्रकार जिस समाज में पुरुष अर्थोपार्जन नहीं करता, वहाँ कन्यापक्ष वरपक्ष से मोटा दहेज वसूल करता है। दहेज का और एक गौण कारण, किसी-किसी देश में या समाज में स्त्रियों और पुरुषों की संख्या की न्यूनाधिकता भी है ! इस प्रकार मोटे तौर पर कन्यापक्ष वरपक्ष को तभी दहेज देता है जब देखा जाता है कि उस समाज में पुरुष की आय पर ही नारी का भरणपोषण होता है,

अथवा स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या कम है। आर्थोपार्जन मूलत स्त्रियों के हाथ में रहने पर या पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या कम होने पर ठीक उल्टी बात देखी जाती है। यह समझना भूल है कि पैत्रिक सम्पति में कन्या का समान अधिकार मान लेने से दहेज की प्रथा उठ जाएगी। क्योंकि जिन समाजों में कन्याओं का पैत्रिक सम्पत्ति में समान उत्तराधिकार है उनमें भी आर्थिक एवं अन्य कारणों से दहेज की प्रथा आ रही है। साधारणतः कम ही लड़कियों को पितृकुल से लब्ध करने लायक सम्पत्ति मिलती है। फलतः वैसी सम्पत्ति के लोभ से वरपक्ष दहेज की माँग छोड़ देना ऐसी आशा करना दुराशामात्र है। जिन दो चार धनी या उच्चमध्यवित्त परिवार की लड़कियों को सचमुच ही लोभनीय सम्पत्ति का उत्तराधिकार मिल पाता है, उनके लिए दहेज की प्रथा रहे या जाए उनका क्या बनता

बिगड़ता है। धनो घर की कुरूप लड़कियों को तो रुपये के बल पर सहज में ही अच्छे पात्र मिल जाते हैं।

स्त्री पुरुषों के निर्बाध मिलने-जुलने के सम्बन्ध में स्मात्तों में मतभेद है। जिस समाज में सयम नहीं हो ऐसे समाज में निर्वाध मिलने-जुलने का परिणाम अच्छा नहीं होता, यह कहने के लिए कोई तर्क देने की आवश्यकता नहीं। परन्तु स्त्री-पुरुषों के परस्पर न मिलने-जुलने के परिणाम स्वरूप और पाँच चीजों की तरह इसकी भी छिपी हुई भूख रह जाती है या इसका विशेष आग्रह या इस सम्बन्ध में कौतूहल बना रहता है; अर्थात् अवैध तरीके से मिलने जुलने का रास्ता खोजने की कोशिश होने लगती है, जिससे यह मिलना-जुलना अपनी पवित्रता खो देता है। इस प्रकार की व्यवस्था मानसिक अवदमन की कोशिश के सिवाय और कुछ नहीं

हो सकती। इस हालत में पुरुषों की तो नैतिकता की दृष्टि से ही क्षति होती है पर स्त्रियों की बहुत अधिक क्षति होती है। बहुतेरी ऐसी स्त्रियाँ इसी के परिणामस्वरूप समाज से बाहर होकर घृणित जीवन बिताने के लिए बाध्य हो जाती है। इसीलिए स्त्री-पुरुषों की स्वाधीनता स्वीकार करने के साथ-साथ उनके मिलने-जुलने के लिए संयमयुक्त सुसम्बन्ध बनाए रखने लायक विधि भी रखनी होगी। जो लोग अपनी कन्याओं को आधुनिकता के स्पर्श से बचाए रखना चाहते हैं और इसीलिए उन्हें स्कूल कालेज भेजने में नाक-भी सिकोड़ते हैं शायद उन्हें मालूम नहीं कि उनके अनजाने ही उनके अन्तःपुर में बहुत पहले ही आधुनिकता की तरंग पहुँच चुकी है। इसीलिए पर्दा टांग कर या बुर्का से ढक कर उसके पंजे से बचने-बचाने की कोशिश तो केवल एक

तमाशा है। जमाने की हवा को जोर जबर्दस्ती रोका नहीं जा सकता। उसमें भी तो गतिशीलता है। जमाने की रफ्तार को अपनी मनीषा से कल्याणमूलक मार्ग में लगाना बुद्धिमान का काम है। युगशक्ति का मुकाबला करने की ताकत व्यक्ति या समाज किसी में नहीं है। जो आदमी या जो समाज ऐसी चेष्टा करता है, युगशक्ति उसे धक्केमार कर अपने रास्ते से दूर कर देती है और वह उद्दाम वेग से आगे बढ़ती जाती है; और इस प्रकार छिटक कर दूर पड़ा जीव मूढ़ होकर अपने दुर्वल मन और धुंधलो आँखों से उसकी प्रगति को अचम्भे से टकटक देखता रहता है।

एक और बड़ा अविचार होता है तथाकथित अशिक्षितों के ऊपर; कागज कलम में न सही, व्यवहार में तो होता ही है। वस्तुतः एक वर्ग ऐसे पण्डित मानी लोगों का है

जो दूसरों को तिरस्कार के भाव से मूर्ख कहते हैं और इन्हें दूर रखना चाहते हैं। वे पण्डित शब्द से क्या समझते हैं, यह समझना मेरे लिए कठिन है। बहुता सी किताबें पढ़ना ही यदि शिक्षा है; तो ऐसे भी लोग मिलते हैं जो पाठशाला में पढ़ी विद्‍या के आधार पर बड़े डिग्रीधारी लोगों से कहीं अधिक किताबें पढ़े रहते हैं। ऐसी अवस्था में किसे शिक्षित कहा जाए। यदि डिग्री को शिक्षा का मापदण्ड माना जाए, डिग्री से ही यदि समझा जाए कि किसने कितना ज्ञानार्जन किया है; तो भी सवाल उठता है कि परीक्षा पास करने के लिए जो लोग किसी-किसी तरह अनेक विषय कण्ठस्थ तो कर लेते हैं और परीक्षा के दो चार महीने या बहुत हुआ तो दो चार वर्ष बाद ही सब भूल भाल जाते हैं, वे बहुत जानते हैं या बहुत शिक्षित हैं कैसे कहा जा सकता है ! यांद शिक्षा मानें रुचि का परिमार्जन या व्यावहारिक संयम समझा

जाए; तो वह तो निरक्षर में भी हो सकता है। अधिक जानने बाले, याद रखने वाले और जीवन में उसे प्रतिफलित करने वालों को यदि शिक्षित समझा जाए तो कहना पड़ेगा कि ऐसी शिक्षा के लिए विद्यालय जाना अनिवार्य नहीं है, बिना किसी स्कूल में नाम लिखाए भी ऐसी शिक्षा संभव है। अतः अपने को पण्डित समझने वालों का शिक्षा का अहङ्कार बिल्कुल झठा है। वास्तव में संसार की किसी चीज को लेकर मनुष्य का अहङ्कार चल नहीं सकता। और चीजों के बारे में यह जितना सच है विद्या या शिक्षा के बारे में तो और भी अधिक सच है। यहाँ तो सब मूर्खा का दल है-किससे मिला जाए भाई ! यहाँ मिलने जुलन लायक तो एक भी आदमी नहीं है," "गांव क्या जाए कोई बातचीत करने वाला भी तो मिले !" ऐसी बातों में सच पूछो तो कानी कौड़ी भर भी सच्चाई नहीं, है केवल अहङ्कार ।

सूचीपत्र

किताबें पढ़ सुन कर जिसने बहुत कुछ जाना है उसे लागों के साथ मिलने जुलने के समय सदा याद रखना चाहिए कि जिसके साथ वह बातचीत कर रहा है वह भी कुछ बातें उससे अधिक जानता है। किसान होने के नाते जिसका तिरस्कार किया जाता है उसके लिए धान की खेती का अथ से इति तक हस्तामलकवत् रहता है और जिसके हस्ताक्षर से धान्योत्पादन के परिस ख्यान का पूरा विवरण प्रकाशित होता है उसे यदि कहा जाय कि धरन के तख्ते की कुर्सी बनती है, तो शायद वह स्वीकार कर लेगा। इसी लिए कोई बात को कितना जानता है इस बात का गर्व करना मूर्खता है; वल्कि यह गर्व तो शिक्षाहीनता का मूर्त प्रतीक है। चतुष्पाठी के किसी पण्डित ने नाव पर नाविक को कहा तुम मेरे किसी दार्शनिक प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते, तुम्हारों

आधी आयु व्यर्थ गई। जब बीच धारा में नाव ऊवडूव करने लगी तों नाविक ने पण्डित को कहा-महाराज, जरा सम्हाल दीजिए, तो पण्डित ने कहा में नाव खेना तो जानता नहीं । उत्तर में नाविक ने कहा- महाराज, अब तो आपका पूरा जीवन ही व्यर्थ हो रहा है। कोई तथाकथित पण्डित किसी जीवन के बारे में वहाँ कैसी मिट्टो है यह सब बिना बिधिवत विचारे मामूली तौर पर कोई मन्तव्य नहीं दे सकता । किन्तु मैने क्षेत्रनाथ पाल नाम के एक बूढ़े किसान को देखा है, जो बुढ़ापे के कारण आँखों से अच्छी तरह देख भी नहीं पाता था; फिर भी जो एक मुट्ठी मिट्टी लेकर मिट्टो के गुणदोष, उसमें कौन फसल अच्छी होगी, कौन ठीक नहीं होगी आदि सब बातें फटाफट बता देता था। अब कहो इस अशिक्षित खेतिहर को पण्डित वहा जाए या मूर्ख ! क्या उसकी दीर्घकाल में अजित अभिज्ञता और उस अभिज्ञता

के व्यवहारिक प्रयोग का कोई मूल्य नहीं ! क्या यह शिक्षा नहीं है। किताबो विद्या या यान्त्रिक विद्या के सामने संस्कारज विधि की अवहेलना कदापि वाञ्छनीय नहीं है।

जिसने अधिक सीखा है, स्मरण रखा है और उसका व्यवहारिक जोवन में प्रयोग किया है उसे ही शिक्षित कहा जा सकता है एवं उसके गुणों को ही शिक्षा कहेंगे। ऐसी शिक्षा पाने के लिए अ, आ, क, ख, आदि अक्षर पहचानने की बहुत जरूरत नहीं है। तब यह जरूर कहा जा सकता है कि अनुभूत विषय के असम्प्रयोग के लिए अ, आ, क, ख, आदि का अक्षरज्ञान यथेष्ट सहायक होता है।

जो लोग मार्जित व्यवहार को शिक्षा का परिचायक समझते है मेरे विचार से वे बहुत बड़ी भूल करते हैं। मनुष्य का सच्चा परिचय उसके व्यवहार में सीमित नहीं उसका परिचय उसकी व्यापक हृदवत्ता में है। जानकर या अनजान से किसी को धक्का देकर उसे कितनी चोट लगी है यह न देखते हुए केवल oh ? sorry, कह देने से यथेष्ट मार्जित रुचि का परिचय दिया जा सकता है, यही सज्जनता का लक्षण भी है; पर इससे स्वाभाविक सहृदवत्ता का परिचय नहीं मिलता। यदि आहत व्यक्ति के क्षत पर सचमुच (सहृदयता का प्रलेप दिया जाय, यदि अपनी बड़ी हानि सहकर भी उसका क्लेश कम करने के लिए प्राणपन से चेष्टा की जाए तो तब शिक्षा का परिचय मिलेगा। वैसी हालत में मूह से sorry नहीं कहने पर भी कोई हानि नहीं । शिक्षा या मार्जित रुचि के नाम पर जो कुछ चल पड़ा है वह अधिकांश

Hypocrisy (कपटाचरण) के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अस्वस्थ या दुःख में पड़े पड़ोसी का अभाव दूर करने की कोशिश न कर उनके घर के छोटे बच्चों को बुलाकर पूछना कि क्या रे, आज किस चीज के साथ भात खाया है ? और वह यदि कहे कि माँ ने आज केवल कलमी साग वनाया था; तो सुनकर मुँह से निकल पड़ता ओह ! तुम लोगों को बड़ा कष्ट है। इनमें 'बड़ा कष्ट है' कहने में अच्छा अभिनय सा करना तो पड़ता है; पर उसमें सामाजिक चेतना या सहृदयता का थोड़ा लेश भी नहीं रहता । इस तथाकथित शिक्षा या सज्जनता का लक्षण यही है कि इसमें अपने ऊपर किसी क्लेश का बोझ लेना नहीं पड़ता केवल बातें बनाने में ही कर्त्तव्य पूरा हो जाता है। तकलीफ दूर करने के लिए किसी रचनात्मक काम में हाथ लगाने से अपने व्यक्तिगत स्वार्थ में कुछ न कुछ असुविधा हो ही सकती है किन्तु विधान सभा में

इस विषय पर गर्जन करने से एक ढेले से दो चिड़ियों का शिकार हो जाता है। एक तो अपने को कोई असुविधा नहीं होती और दूसरे सस्ते में बहादुरी मिल जाती है। जो ऐसी "हिपोक्रेसी" के अभ्यस्त नहीं हैं उन्हें अयोग्य या बिल्कुल स्वार्थी कह कर आसानी से गाली दी जाती है। इस प्रकार के कपटाचारी सज्जन यदि दूसरों को मूर्ख कहें; तो क्या उनकी बात सिर झुकाकर मान ली जाएगी ?

प्रत्येक वस्तु को एक मार्जित रूप देना ही सभ्यता है और यह सभ्यता शिक्षा के साथ ओतप्रोत भाव से सम्बद्ध है। किन्तु किसी प्रयोजनीय वस्तु को मार्जितरूप देने के लिए जहाँ अभिनय ही प्रधान है, वहाँ निश्चय हो सभ्यता या शिक्षा नहीं है। किसी के यहाँ निमन्त्रण में खाते समय दो या ढाई पूरियां किसी प्रकार

खाकर और तो खाया नहीं जाता यह कह कर घर में आते ही भर पेट झोल भात खाने वाले और लोगों को अपने स्वल्पाहार की बात अच्छी प्रकार बता सकते हैं; पर इसमें सरलता लेशमात्र भी नहीं रहती । वर्तमान समाज में सभ्यता और शिक्षा का स्वरूप अधिकांश ऐसा ही है।

पहले कह चुका हूँ कि यह कहना कठिन है कि कौन शिक्षित है और कौन मूर्ख साधारण लोग उन्हें ही शिक्षित समझते हैं जिनकी शिक्षितमन्यता का उन पर सिक्का जम जाता है। ऐसे शिक्षितमन्य लोग सदा सब के सब उच्चउपाधिधारी नहीं होते, अधिकांश तो धन के बल पर या अपनी पदमर्यादा के बल पर अपने को शिक्षितों की श्रेणी में सम्मिलित कर लेना चाहते हैं। अपने लिए अलग कलब, पुस्तकालय आदि खोल कर वे

दिखाना चाहते है कि वे 'साधारण लोग' कहने से जो समझा जाता है वह नहीं हैं। वे बहुत समझते हैं, जानते हैं, विज्ञान की तरह आँखें बन्द कर मुस्कुराते हैं और वहुत कम बोल कर गाम्भीर्य बनाए रखते हैं; क्योंकि अधिक बोलने से उनकी सरे बाजार पोल खुल जाएगी। हाँ, क्लब के विषय में एक बात और कहूंगा कि कुछ क्षेत्रों में खास गोष्ठी के लोगों के लिए स्वतन्त्र क्लब खोलने की यौक्तिकता मानें तो मान लें सकते हैं- जैसे एक भाषा बोलने वाले अपनी भाषा के आधार पर जो क्लब खोलना चाहते हैं नीति की दृष्टि से उनका पूरा समर्थन न करने पर भी एक बात तो सब है कि क्लब में कोई भी आदमी किसी प्रकार की अस्वस्थकर परिस्थिति में पड़ना नहीं चाहता, वहाँ तो लोग दिल खोलकर हँसना बोलना चाहते हैं और केवल इसीलिए, अत्यन्त आवश्यक होने पर यदि कोई एक भाषा के

आधार पर क्लव खोलना चाहे तो उसका विरोध भी नहीं किया जा सकता। पर इस प्रकार की प्रवीणता को उत्साहित भी नहीं किया जा सकता। विशेष-विशेष ज्ञान (यथा चिकित्सा या कानून) के अनुशीलन की सुविधा के लिए विशेष-विशेष श्रेणी के गवेषक अपने लिए स्वतन्त्र क्लब बना सकते हैं। क्लब में हास्यविनोद के मेल जोल के माध्यम से उच्चत्तर भावों का कुछ तो आदान प्रदान हो ही सकता है और इसके द्वारा एक दूसरे से उपकृत होकर सम्मिलित प्रयास के द्वारा विशेष शास्त्र या विज्ञान की उन्नति कर सकते हैं। किन्तु आजकल अपने को शिक्षित मानने वाले एक वर्ग के लोग जो अपने लिए स्वतंत्र क्लब खोलते हैं उसके पीछे क्या इस प्रकार को कोई धारणा रहती है ? वहां तो एकमात्र यही वृत्ति रहती है कि मूर्ख, प्राकृत जनसाधारण यदि हम लोगो से मिलेजुले तो हम लोगो की इज्जत जाएगी। यदि आप

खोज करें तो पाएंगे कि समाज के इस वर्ग के उच्च स्तर के (?) क्लबों में ही दुर्नीति का नङ्गा नाच चलता है; सुरा का स्रोत बहता है। तो भी क्या मानना होगा कि ऐसे क्लबों के सदस्य सभ्य हैं, भद्र हैं, शिक्षित हैं और वाकी लोग असभ्य, अभद्र और मुर्ख ।

सभ्यता के नाम पर इस प्रकार का डोंग नहीं चलने दिया जा सकता । शिक्षित और मूर्ख के बीच कपोलकल्पित भेद रेखा खींचकर मनुष्य से दूर रखने से बलिष्ठ मानव समाज का गठन नहीं हो सकता। मनुष्य मनुष्य को और निकट लाना होगा, हृदय हृदय के स्पर्श से एक दूसरे को समझना होगा ।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सामाजिक, आधिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक -प्रत्येक भूमि में मनुष्य को उसके अधिकारों के प्रति जागरुक कर देने का नाम ही ज्ञान-विस्तार करना है और इस अधिकार का पूरा पूरा प्रयोग ही विज्ञान साधना है। जो अवहेलित मनुष्य चाहे कारण से ज्ञान विज्ञान से दूर है उसे वह सुयोग देना होगा। कहीं किसी में अधिकार मतभेद नहीं रक्खा जा सकता। यह बात ठीक हैं कि सामाजिक, आर्थिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य की अनभिज्ञता का सुयोग पाकर स्वार्थवादियों का दल अपना जाल फैलाये बैठा है। वे बाकी लोगों की प्राणशक्ति की अन्तिम बूँद तक चस लेना चाहते हैं। इसलिए स्वार्थवादी कभी नहीं चाहेंगे कि भूखों को भर पेट भोजन मिले, कुसंस्कारों में जकड़ हुए लोगों के कुसंस्कार दूर हों और अध्यात्म- ज्ञान और विज्ञान का

समुचित ज्ञान लेकर सब लोग उस राज्य में आगे बढ़ सकें; वे चाह भी नहीं सकते। किन्तु पण्डित और मूर्ख के बीच जिस काल्पनिक भेद-रेखा की बात कह रहा हूँ उसे दूर करने के लिए; अर्थात् इस विषय में कष्टकल्पित भेद के लिए थोड़ी भी गुंजाइश नहीं रखने देने के लिये यह मानविक मूल्य स्वीकार करना ही होगा। प्रकाश और वायु के समान ज्ञान और विज्ञान भी उन्मुक्त होंगे। अबाध वर्षा- धारा के समान ज्ञान और विज्ञान और सबका सिंचन करेंगे; नियत माप से प्राण रस मिलता रहेगा ।

शिक्षा और अशिक्षा के क्षेत्र में निहित स्वार्थवादियों का दल शोषितों में अज्ञता का हो पोषण करना चाहता है क्योंकि मानविक मूल्य को अस्वीकार करने के लिए अच्छा बहाना मिल जाता है। अर्थनैतिक क्षेत्र में तो इस

प्रकार का आडम्बर और भी उत्कट, और भी विभत्स है। एक ऊँची डिग्रीधारी व्यक्ति जब अपनी डिग्री भजाकर अपने लिए अन्न, वस्त्र जमा करता है उस समय वह भूल जाता है कि एक तथाकथित सबलकाय मूर्ख उसीके समान अपनी सम्पत्ति भजाकर अर्थात् शरीर से खटकर अन्न, वस्त्र जमा करता है। इस क्षेत्र में जैसे मनुष्य की दृष्टि से तथाकथित मूख को मानवोचित सम्मान तथा अधिकार से वञ्चित रखने में पौरुष समझता है वैसे ही पूर्व पुरुषों की सम्पत्ति पाकर या लोगों को ठगकर प्रचुर सम्पत्ति हथियाकर या पूजी अथवा बिना पूजी के अपनी बुद्धि लगाकर बहुत बड़ी सम्पत्ति का मालिक होकर इस प्रकार के धनी लोग भूल जाते है कि प्रकाश, हवा, पानी के समान संसार की प्रत्येक सम्पत्ति जीवमात्र की साधारण सम्पत्ति है, कुछ भी किसी की व्यक्तिगत या पतृक सम्पत्ति नहीं है, कि प्रकृति की दी हुई सम्पत्ति

सूचीपत्र

सबों के मिलजुल कर व्यवहार करने के लिए है, किसी का मौरुसी, मुकररी पट्टा नहीं लिखा है। अगर कोई कहे कि दूसरे लोग जैसे शरीर से खटकर धन कमाते हैं, भोजन, वस्त्र की व्यवस्था करते हैं वैसे ही मैं भी बुद्धि खटाकर वही करता हूं, मेरा जब बौद्धिक परिश्रम होता है तब मैं भी मिहनती आदमी क्यों नही गिना जाऊँगा 'उत्तर में इतना ही कहूंगा कि जिस बौद्धिक या भाव जगत् की सम्पत्तियों का आदि-अन्त कुल किनारा नहीं उसे बुद्धि के वल से जितना दखल कर सको, जरूर करो उसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी किन्तु पार्थिव जगत की जो सम्पत्तियां सीमित है जैस घर द्वार, जगह-जमीन, अन्न-वस्त्र, रुपया-पैसा इन्हें यदि तुम अकेले हथिया लो तो और सैकड़ों, हजारों लोगों को उनके लिए आवश्यक वस्तुओं से वञ्चित रहना पड़ेगा। बुद्धि से भी बर्थोपार्जन निश्चय ही किया जा सकता है;

पर वह उपार्जन उतना ही होना चाहिऐ जितना तुम्हारे परिवार के प्रतिपालन या उनके दुर्दिन की सुरक्षा के लिए आवश्यक हो । उससे एक पैसा भी अधिक नही। अर्थ का मूल्य व्यवहार में है-वह सदा स्मरण रहना चाहिए। तुम्मारे घर में तुम्हारी जरूरत से ज्यादा जो धन सञ्चित होता है वह व्यवहार नहीं होने के कारण मूल्यहीन हो जाता है। जितने धन को तुम मूल्यहीन कर रहे हो, उसके परिणाम में तुम एक भूख, नंगे मनुष्य के प्रति अविचार भी कर रहे हो। तुन्हें अपने मूल्यहीन रुपयों का दूसरों को व्यवहार का सुयोग देकर उन्हें मूल्यवान बना लेना होगा। इसीलिए कहता हूँ कि जो पार्थिव सम्पदों के अन्यतम विनिमय माध्यम इस अर्थ का उचित व्यवहार नहीं जानते वे यथार्थ में समाज द्रोही हैं। समाज का जो अन्तः सत्य है वह 'एक साथ चलने का भाव' ही उनमें नहीं हैं। बड़ी बड़ी डींग हाँकने

से मानवीय अधिकारो की प्रतिष्ठा नहीं होती। इस मूल्यबोध का परिचय छोटे बड़े सब कामों के बीच होकर ही देना पड़ता है। इन कामों का एकमात्र कारण न होने पर भी अन्यतम कारण है आर्थिक क्षेत्र में मानविकता को स्वीकृति देना। जिस समाज ने इस असमता को स्वीकार कर लिया है, जो समाज ग्रान्त युक्तियों की अवतारणा कर इस असाम्य को जीवित रखना चाहता है वह समाज नहीं है। इस प्रकार की कुयुक्तियों का झंडा ऊंचा करने वाले धर्म का भेष धर कर निपीड़ित मनुष्य समाज को समझाना चाहते हैं कि उनका धनाभाव के कारण लाँछन, अन्न, वस्त्र, चिकित्सा आदि का अभाव, गर्मी के दिनों में चिलचिलाती धूप में तपना, जाड़े के दिनों में कुकड़ाकर, जमकर मरना यह सब उनकी भाग्य लिपि में लिखा हुआ है, पूर्वकृत कर्मो की प्रतिक्रिया है। कुछ दिन पहले एक करोड़पति को किसी समाज में

बोलते हुए सुना था कि आज के समाज में गीता के कर्मवाद का अच्छो तरह प्रचार करने की जरूरत है; क्यों कि इस कर्मवाद को अच्छी तरह समझने पर डस्टबीन (घूड़) पर के निपीड़ित नरकङ्कालों का दल अपनी दुर्दशा के लिए पूंजीवादियों को दोष न देगा, वह सहज भाव से अपने दुर्दैव को ही इसका दोष देगा। कैसी भीषण बात है ? पूंजीवाद का कितना सुन्दर दर्शन है ? सम्भव है नियतस्वार्थवादियों के आश्रय में पलने वाले वेतन भोगी कोई तथाकथित पण्डित इस उक्ति के समर्थन में कोई दर्शन भी खोज निकालने की चेष्टा करे। इस प्रकार के दर्शन के कुटिल हाथों से लोगों को भगवान् बचावे ।

जीवन में कोई सच्चा ऊँचा आदर्श नहीं मिलने तक मनुष्य की सांसारिक भोग- लिप्सा नहीं मिटती। चीता-बाघ की तरह उसके खाने की इच्छा नहीं पूरी होती ?

सूचीपत्र

मानो वह हमेशा ही कहता रहता है- 'मै भूखा हूं। हमेशा मुँह बाए रहता है और संसार के बेवकूफ अपनी भाग्यलिपि का रोना रोते हुए उसके मुँह में घुसते चले जाते हैं और इन हिंस्र चीतों का दल उनके रक्तमांस का आखिरी कतरा खाकर नीरस हड्डियों को बाहर फेंक देता है। क्या इस चीता दर्शन को भी मानना पड़ेगा ?

जिसके घर लक्ष्मी हैं उनके लिए थकावट से चूर मुरझाये चेहरे, बिना नहाए मैली कुचैली पोशाक पहने सोटिया-मजदूर-चपरासियों का वर्ग तो मनुष्य की गिनती में आता ही नहीं। नियत स्वार्थ का लक्षण ही है- अपने अतिरिक्त और किसी की चिन्ता न करना। वह खानेवाला और वाकी सब उनके खाद्य । अपने लिए ही उसे और बहुत कुछ चाहिए। जिसकी मासिक आय तीन

हजार रुपये है उसकी बात न सोचना ही अच्छा है और जिसे तीस ही रुपये मिलते हैं, उसे इसी तीस रुपये की आय में से मकान भाड़ा भी देना पड़ता है; स्त्री, बेटा-बेटी सबको प्रतिपालन करना पड़ता है, बोटे की पढ़ाई लिखाई है, छोटे बच्चे का दूध है, बेटी का विवाह है-सब तो उसे करना ही है। ये आवश्यकताएँ क्या समाज के उपर की श्रेणी के लोगों के लिए ही हैं? पर हाँ क्या वे उनके जीवन की सबसे छोटी आवश्यकताएं नहीं है? पर गरीबों को इन सब बातों पर विचार करना बुद्धिमानों का काम नहीं है; क्योंकि उनका विचार करने से कुछ न कुछ त्याग करने के लिए उन्हें तैयार होना पड़ेगा। गरीबों को पेट की ज्वाला न रहे; तो धनियों के विलास के साधन कैसे जमा हों। गरीबों की लड़कियाँ हमेशा-हमेशा के लिए गोबर चुनती फिरें और उनके लड़के

वंशानुक्रम से धनियों के घर पर नौकर का काम करें यही व्यवस्था न अच्छी है ? गरीबों की ऊंची आशाए। छी छी- वह तो दुराशा है।

संसार में कोई दो चीजें समान नहीं हैं। इसलिए सबकी एक सांचे में ढालने की बात मैं नहीं कर रहा हूं। फिर भी मानवता के लिए, सुविचार के लिए यह आवश्यक है कि विश्व को सम्पदा को संसार के लोगों में सम भाव से बाँटा जाए। जागतिक सम्पद् का समान मालिकाया हक पाने का प्रत्येक मनु य को जन्मसिद्ध अधिकार है। किसी को इस अधिकार से वंचित करने की छोटी सी चेष्टा भी घोरतर स्वार्थपरता का काम होगा। वास्तविक जगत में जबतक छोटी बड़ी अनेक असुविधाए है, हो सकता है तबतक निित्त पर तौल कर सारी सुविधाएँ सबको देना सम्भव न हो; पर इसके अतिरिक्त

गठन-मूलक कार्यों में उत्साह या प्रेरणा देने के लिए या कई विशेषा

कणिका में प्राउट

कामों के अनुषांगिक अंग के रूप में खास-खास लोगों को कुछ सामयिक सुयोग-सुविधा देने के प्रश्न को छोड़कर और सब क्षेत्रों में सब मनुष्यों को समान अधिकार तथा समान सुयोग-सुविधा देना ही होगा। जीवन धारण के लिए जो वस्तुए अत्यावश्यक हैं जैसे :- वस्त्र, रहने को घर, भोजन, चिकित्सा और शिक्षा के क्षेत्र में प्रत्येक मनुष्य को कांटे से तौल कर समान अधिकार मिलना चाहिए। यदि कोई कोई कहे कि अन्न-वस्त्र के अभाव में कष्ट पाने वाले अपने पूर्वजन्म के लिए कर्मों का फल

भोगते हैं, इसलिए हम पर इसका कोई सामाजिक दायित्व नहीं है; तो मैं कहूंगा, यदि मनुष्य को कर्म के परिमाप के बराबर फल भोगना ही होगा तब भोग तो मानसभूमि में दूसरी तरह भो हो सकता है। अन्न वस्त्र के अभाव से कष्ट न भोग कर या सामाजिक विषमता के कारण लांछन सहे विना भी आदमी मानसिक क्लेश के माध्यम से अपने कृतकर्म का प्रायश्चित कर सकता है। हो सकता है सामाजिक सुविचार के माध्यम से लोगों का इस प्रकार का कष्ट दूर करना सम्भव न हो। जिस देश में खाने पीने, पहनने ओढ़ने या चिकित्सा आदि का कष्ट लोगों को नहीं है, वहां भी लोगों को मानसिक क्लेश है और रहेगा। वहाँ भी लोगों को अपमान को ज्वला सहनी पड़ गी, प्रियजनों की मृत्यु पर आठ आंसू बहाने पड़ेंगे, रोग यन्त्रणा से कराहना पड़ेगा, ये क्लेश तो सामाजिक सुविचार के द्वारा दूर नहीं किए जा

सकते; पर व्यक्तिगत या समष्टिगत क्लेश के वस्तुतान्त्रिक अंश का तो सामाजिक सुविचार या समता के द्वारा अनायास ही समाधान किया जा सकता है। इसके लिए किसी के कृतकर्म या दैव को धिक्कार देना व्यर्थ है। वस्तुतः दूसरों का क्लेश देखकर उसके प्राकृत कर्म की दुहाई देना नियत स्वार्थपूर्ण मनोभाव के अतिरिक्त और क्या है ? क्योंकि इस बात को एक सामाजिक व्याधि या असंगति रूप में स्वीकार कर लेने के साथ ही अपने ऊपर इसकी व्यक्तिगत जबाबदेही भी तो आ जाती है।

अभी अभी चर्चा कर चुका हूँ कि छोटी बढ़ी कुछ असुविधाओं को लेकर हो सकता है संसार की सम्पत्ति प्रत्येक मनुष्य में निक्ती से तौलकर बांट देना सम्भव नहीं हो पाता हो या अबतक नहीं हुआ है; परन्तु इस

विषमता को दूर करने के काम में हाथ लगाने से कौन मना करता है। तीस रुपये और तीन हजार रुपए मानसिक वेतन के बीच का फासला कम करने में असुविधा कहां है। ऐसा करने के लिए तीन हजार रुपए वेतन पानेवालों का विलासव्यसन कुछ कम करके उसी रुपये से कुछ लोगों को मनुष्य का जीवन बिताने योग्य कुछ सुयोग दिया जा सकता है। नियत स्व. धंवादियों की यही आपत्ति होगी, यही असुविधा होगी। क्यों ! यदि प्रत्येक मनुष्य को परिवार चलाने के लिए कम से कम वेतन की व्यवस्था कर योग्यता और जबाबदेही के अनुरूप व्यक्ति विशेष को बीस-पचीस रुपए अधिक दिये जायें तो क्या ठीक नहीं होगा ! ऐसा करने से योग्यता और दायित्व बोध के प्रति ठीक ठीक सुविचार भी हो जायगा ।

समाज के असल रोग की ओर आज भी लोग आंख खोलकर नहीं देखते । विभिन्न वृत्ति श्रीवियों ने पूर्णतया व्यक्तिगत या दलगत स्वार्थवश संघ या समितियां बना ली है, इसलिए इस तरह की समस्यायें और केवल ऐसी समस्यायें ही क्यों, संस'सार की प्रत्येक समस्या के समाधान के लिए मनुष्य केवल अपनी ओर ही देखता है। नीचे के स्तर के लोगों की तरफ नहीं देखता। जो ऊपर हैं उन्हें नीचे उतारने के काम में जितनी बशक्ति लगाई जा रही है उसका शतांश मी नीचे के लोगों को ऊपर उठाने में नहीं लगता, यही दुःख की बात है ।

व्यक्तिगत रूप से किसी ने कभी इस विषय में कुछ नहीं विचारा यह कहना ठीक नहीं। मैं कई सौ वर्षों के समाज दर्शन के सामाजिक उलटफेर या भिन्न-भिन्न मनीषियों की सामाजिक चेतना की बात नहीं करता।

सूचीपत्र

मध्ययुग के लोगों में से किसी-किसी में इस तरह की सामाजिक विषमता को दूर करने की भावना जगी थी और उन्होंने इसके लिए चेष्टा भी की थी। दरिद्रों के प्रति वैश्यों की दया की बात मैं नहीं कर रहा हूं उनकी बात जो धनियों का घन लूट कर दरिद्रों में बाँट देने को पुण्य कर्म समझते थे । उस युग के वे राबिनहुड शायद समझते थे कि सामाजिक विषमता इसी तरह दूर हो सकती हैं; पर यह न तो सम्भव था और न ऐसा हुआ । संसार भर में, प्रत्येक देश में न्यूनाधिक इस तरह के राबिनहुड हुए है, पर इनसे समस्या का सामाधान नहीं हुआ; क्योंकि दान से किसी का जीवन नहीं चलता भले इससे भिक्षाजीवियों का दल तैयार हो सकता है। परन्तु वह लोभी, जड़ अकर्मण्य समाज भविष्य के लिए और भी अधिक दरिद्रता की सूचना दे देता है। दूसरी ओर लूट पाट से पूंजीवाद का नाश नहीं होता, क्योकि सम्मव

है इस तरह की डकैतियों से पूजीवादियों की पूजी कम हो पर पूंजीवाद का बीज इससे भरता नहीं। सम्भव है मध्ययुग के ये 'हीरो' अज के युवकों के खून में गर्मी ला दें, पर कोई प्रेरणा नहीं दे पाते। शक्ति के सम्प्रयोग से लोगों की सम्पत्ति छीनकर वस्तुतान्त्रिक जगत में आपात दृष्टि से भले ही उसे निःस्व बना दिया जाए; किन्तु वस्तुतान्त्रिक जगत् में उसे धनी होने के अवसर से स्थायीरूप से वंचित नहीं किया जा सकता। हिंसा-हिंसा को ही साथ लाती है। इसीलिए इन नररक्तलोलुप पिशाचों का दल इसके बाद और भी बड़ा षड्यन्त्र करने के लिए तत्पर हो जाता है और अल्पबुद्धि डकैतों का समुदाय अन्त में उनके ही हाथो नष्ट हो जाता है। इन दस्युओं के हाथों शोषकों को जितना बड़ा दण्ड मिला है उससे कई गुणा बड़ा दण्ड इन शाषकों के हाथों दस्युओं को मिला है।

बल-प्रयोग से समस्या का समाधान नहीं होता क्योंकि व्यष्टि या समष्टि मन के जिस विषवृक्ष को इस वलप्रयोग से नष्ट किया जाता है उसका बीज लोगों के मन में रह जाता है। परिस्थिति का दवाव शिथिल पड़ते ही वह बोज अंकुरित हो उठता है और पहले से कहीं अधिक बड़े अनर्थ का कारण बन जाता है।

तब इस समस्या का समाधान क्या हो। यह तो ठीक है कि इसके लिए हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता है और यह हृदय-परिवत्तं न हिंस्र पद्धति से सभव नहीं। अतृप्त क्षुधा लेकर यदि कीई केवल संघशक्ति के भय से अपनी क्षुधा व्यक्त न करे या अभिनय करे तो इसका अर्थ यह नहीं कि उसे क्षुधानिवृत्ति की शान्ति मिली है या सुयोग पाकर भी वह क्षुधानिवृत्ति के लिए निर्मम रूप से चेष्टा नहीं करेगा। इसीलिए कुछ लोग कहते है कि केवल

मानविक आवेदन के द्वारा ही हृदयवृत्ति का परिवर्त्तन सम्भव है और दूसरा कोई उपाय नहीं। ऐसा कहने वालों की भावना या नीति बहुत उच्च स्तर की होने पर भी धरती की मिट्टी बहुत कठिन है; यहाँ इस प्रकार का सात्त्विक आवेदन आसानी से अपना प्राणरस संग्रह नहीं कर पायगा। मानविक आवेदन या सत्याग्रह क्या है ? वास्तव में यह भी परिस्थिति का दबाव निर्माण करने के लिए एक विशेष प्रकार के शक्ति-प्रयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं। इसे विप्रोचित शक्ति प्रयोग कह सकते हैं। इस स्थूलरूप से किसी शक्ति का व्यवहार न करके, आइन कानून की सहायता न लेकर; न आँखे लाल कर, न खूना खूनी करके मनुष्य को कल्याण के पथ पर चलने के लिए आग्रहशील कर दिया जाता है अथवा सीधी बात कहें तो चलने के लिए बाध्य कर दिया जाता है। परिस्थिति का दबाव क्या है ? शक्तिप्रयोग कर

व्यक्ति या समष्टिमन को कल्याण तरंग में दोलित कर देना ही तो मानविक आवेदन में या सत्याग्रह में मनुष्य के मन का जो अंश बहुत कोमल जो सहज ही दोलित हो उठता है उसे ही छूने का प्रयत्न किया जाता है। इसीलिए जो विचारशील हैं, जिनके मन में खासी कुछ अच्छी कोमलता है ऐसे लोग ही मानविक आवेदन या सत्याग्रह से प्रभावित होते हैं। जड़बुद्धि के पास इस प्रकार के आवेदन का कोई बड़ा मूल्य नहीं होता। उनके मन को दोलित करने के लिए कठोरतम आघात करने की जरूरत है और चिरकाल तक रहेगी, नहीं तो इस सात्त्विक आवेदन के फलस्वरूप किसी कठोर मन के अज्ञात प्रान्त में कभी वीणा के तार बज उठेंगे इस आशा में अनन्तकाल तक बैठे रहना पड़ेगा। जिन पीड़ितों का दुःख दूर करने के लिए यह आवेदन होगा इतने दिनों में अभागों का अस्थि पंजर गलकर धूल में

मिल जायगा। इसलिए गाँधीवाद या भूदान आन्दोलन मनुष्य की सहृदयता को कितना भी महत्त्व क्यों न दे या इसके प्रवक्ता कैसे भी ऋषितुल्य मनुष्य क्यो न हो, क्षुद्र स्वार्थ लोलुप मनुध्य इस नीति को साधारणरूप से कभी नहीं अपनाएंगे, पदयात्रियों के गैर के छाले उनके कठोर मन को हिला नहीं सकेगें। गाँधीवाद कल्पना के स्वर्ग के लिए तो बड़ा सुन्दर है पर वास्तविक धरातल पर उद्भट आत्मरति मात्र है।

हाँ, मनुष्य के मन को आन्दोलित करना ही होगा और इसके लिए केवल सात्विक शक्ति या मानविक आवेदन का मुह जोहते बैठे रहने से काम नहीं चलेगा । परिस्थिति का दबाव पैदा करने के लिए जरूरत हो तो सब तरह की व्यवस्था अपनानी होगी। गणतन्त्र राट्रों में कानून के सहारे चाप सृष्टि करने में अथवा शक्तिवादी

राष्ट्रों में परिस्थिति के चाप से शोषकों को सत्पथ पर रहने के लिए बाध्य करने में किसी प्रकार की बुराई मैं नहीं समझता। तब हाँ जैसे हो मनुष्य के मन को झकझोर देना ही बड़ी बात नहीं है; इसकी तरंग ठीक रहे इसके लिए यथोचित नीति शिक्षा की व्यवस्था भी करनी पड़ेगी। इस आघात की तरंग को ठीक रखने के लिए व्यष्टि और समष्टि जीवन में अनवरत संग्राम चलाते रहना होगा । पुराना पड़कर इसकी प्राणशक्ति कहीं मुझझने न लगे, पौरुष कहीं ऊधने न लगे, मन के निभृत प्रान्त में कहीं जड़ता अपना अड्डा न जमाने लगे - इस पर नजर रखनी होगी ।

जो मनुष्य की हृदयवत्ता के ऊपर ही पूर्णरूप से निर्भर कर मानविक आवेदन को ही एक मात्र पूजी बनाना चाहते है वे व्यर्थ सिद्ध होंगे, जो हृदयवृत्ति के

परिवर्तन के लिए कोई व्यवस्था न कर जो स्वभाव संशोधन के लिए कोई नीतिगत या आदर्शमय मार्ग न अपनाकर केवल कानून के बल से या संगीन दिखा कर साम्यवाद की प्रतिष्ठा करना चाहते है वे भी व्यर्थ सिद्ध होगे; क्योंकि उनके इस कष्टसिद्ध साम्यवाद को यदि डकैती न कहें तो हमें डकैती से भी मारात्मक कहना होगा, क्योंकि मनुष्य के मन में स्वाभाविक रूप से आत्माभिव्यक्ति की जो प्राणिक आकुति है उसे इसमें जड़शक्ति के द्वारा दवा दिया जाता है। इस प्रकार दब कर रहना जीवधर्म के विरुद्ध है। इसलिए दमित मन विद्रोह के माध्यम से (यदि इसे कोई प्रतिविप्लब कहना चाहे तो कह सकता है; पर मैं इसे प्रतिविप्लव नहीं कहता) अपनी स्फूर्ति का मार्ग खोज लेगा। मनुष्य अपना प्राणधन, अपनी आत्मिक सभ्भावना को खोकर

उदर उपस्थ जीवी पशु होकर जीना नहीं चाहता - जी नहीं सकता ।

और जड़शक्ति के द्वारा मनुष्य को उदार (!) एवं साधु (!) बनाए रखने के लिए उसको वैयक्तिक स्वाधीनता को निर्मम रूप से क्षण्ण करना ही होगा' विशेष दल या विशेष संगठन के हाथो में शक्ति केन्द्रीभूत करना ही होगा। इस व्यवस्था में मनुष्य के रूप में मनुष्य के विशेष मूल्य को अस्वीकार करने के अतिरिक्त दूसरी गति नहीं। उसके मूल्य को स्वीकार करने में ही मुश्किल है; क्योंकि उसे अपना मत घ्यक्त करने अथवा उसका मत कल्याणकर है यह समझाने का उसका अधिकार मानना ही होगा और इसकी स्वीकृति के साथ कि विल्कुल जड़शक्ति के द्वारा मनुध्य को दबा रखना अन्याय है- (प्रकारान्तर से यह भी मान लेना

पड़ेगा) ऐसा मान लेने से बड़े कष्ट से निर्मित तथाकथित साम्यवाद तो उलट पुलट हो ही जायगा ; बल्कि जिस दल या पार्टी के हाथों में शक्ति केन्द्रिभूत होगी वह भी सद्यः स्वाधीनता प्राप्त साधारण जन की मिलित आत्मिक तथा मानसिक शक्ति के प्रभाव से थोड़े समय में ही अधिकारच्युत हो जायगी। अतः गांधीवाद और जड़शक्ति केन्द्रिक तथाकथित साम्यवाद दोनों में एक भी लोगों का कल्याश नहीं कर पाएगा । मनुष्य को ऐसा एक मार्ग चुन लेना होगा जहाँ किसी भी परिस्थिति में मानवता बोध या मानविक आवेदन का अभावान रहे; बल्कि जरूरत हो तो जड़शक्ति तथा दूसरे किसी भी प्रकार से शक्ति प्रयोग की व्यवस्था भी रहेगी ।

मानवता की भित्ति पर जो कुछ भी निर्माण करना हो उसकी आधार भूमि होगी मनुष्य के प्रति सच्चा प्रेम। जो बुद्धिमान हैं, जो बड़े कर्मशील हैं या जो और कुछ लोगों से अधिक गुणवान हैं, वे यदि प्रत्येक काम में कितना पाया और कितना खोया इसीका हिसाब करते रहें; तो उनके संगठन से किसी सच्चे कल्याणधर्मी समाज का निर्माण नहीं हो सकता। लाभ का प्रश्न गौण हो जाता है। जहाँ प्रेम ही प्रधान है, वहाँ व्यक्तिगत हानि व्यक्तिगत हानि लाभ का प्रश्न मैं विल्कुल उड़ा देना नहीं चाहता; क्योंकि व्यक्तिगत क्षति की मात्रा अधिक होने पर प्रेम में आविलता आ जाने की सम्भावना है। तब व्यक्तिगत स्वार्थपर बड़ा अघात पड़ने पर, अथवा दूसरे किसी कारण में अपना अस्तित्व बचाए रखना ही जब कष्ट साध्य हो जाए, ऐसी अवस्था में प्रेमभित्तिक समज से उसे प्रतिकार मांगने का अधिकार

होना ही चाहिए। स्वस्थ समाज निर्माण करने का एकमात्र मसाला जहाँ सच्चा प्रेम है वहाँ जोरजबरदस्ती या कानून के बल से समाज का ऐसा सच्चा रूप विकशित करना कैसे सम्भव होगा ? पहले यह कह चुका हूँ जो अर्थनैतिक क्षेत्र में तथाकथित भाववादी हैं, अर्थात जो सोचते हैं कि मनुष्य के कानों में आदर्शवाद की बात सुनाने से ही एक आदर्श समाज संगठित हो जाएगा उनकी सफलता में मुझे आस्था नहीं है और जो विल्कुल शक्ति सम्प्रयोग के ऊपर निर्भर करते हैं उनका समर्थन तो मैं एकदम नहीं कर सकता, क्योंकि आज जिस मनुध्य पर उसे असावधान पाकर शक्ति प्रयोग करते हैं (संभव है वह अपनी त्रुटि समझता भो नहीं हो) वह प्रति मुहूर्त रक्तपात के माध्यम से, उलटकर शक्ति प्रयोग की चेष्टा करेगा इस में क्या सन्देह ? क्योंकि अवदमित वृत्ति को परिस्फूटरूप से व्यक्त करना तो

मनुध्य का स्वभाव ही है। और इस वृत्ति स्फुरण को रोकने के लिए तो स्वभाव में हो परिवर्तन लाना पड़ेगा? यह मूलनीतिपरक विषय है। अल्पकालीन योजना लेकर काम करने की चेष्टा इस क्षेत्र में सर्वथा अर्थहीन है।

अपने स्फुरण का मार्ग सर्वतोभावेन खोजना जीव का स्वाभाविक धर्म है। यह स्फूरण कहीं स्थूलभोगात्मक है और कहीं सूक्ष्म मानस योगात्मक । हु प्रत्येक स्थूल भोग्य वस्तु सीमित है इसीलिए किसी व्यक्ति किसी भोग वस्तु का अम्बार लगाना वाञ्छनीय नहीं है। पहले कह चुका विशेष के घर में सूक्ष्म मानस तत्त्व का भोग जो जितना चाहे करे, मानस जगत या अध्यात्म जगत में जो जितना अधिक सम्पद बटोर सके बटोरे, किन्तु जड़भोग्य जगत की सम्पत्ति किसी एक के पास अधिक जमा न हो इसके लिए जरूरत हो तो कुछ शक्ति प्रयोग

करना ही होगा; पर यह भी जानते हैं कि शक्ति प्रयोग से वह अपना सञ्चित सम्पत्ति से कुछ वञ्चित तो होगा, या आगे सञ्चय करने का सुयोग भी उसे कम मिलेगा। किन्तु जड़भोग्य वस्तु पाने के लिए मन की जो भूख है (असल में जड़ या मानस दोनों प्रकार के भोग मासस क्षुधा से उद्भुत है। स्थूल क्षुधा उससे बहुत कम में ही मिट जाती है। यहाँ स्थल क्षधा को अर्थात crude mind के प्रयोजनों को विशुष्क मानस क्षुधा कहने में मुझे आपत्ति है। उसे उपयुक्त शिक्षा द्वारा भिन्न खाद में बोकर मानस-भोग की क्षुधा में परिवर्तित कर लेना निश्चय ही कोई असम्भव क.म नहीं है। मनुध्य समाज में ऐसी शिक्षा को ही आज सबसे अधिक आवश्यकता है। बिल्कुल भाववादी की तरह इसमें जगत को न तो अस्वीकार ही किया जाए और न जड़वादी की तरह

मानव मन की उच्चतर वृत्तियों को जबर्दस्ती दवा रखने की चेष्टा ही रहे।

यदि मन की वृत्तियों को उच्चतर अनुभूतियों की ओर न लगाया जा सके तो वे क्षुद्र भोगों की चिन्ता में ही लगी रहना चाहेंगी। ऐसे लोग जो मुँह से तो आदर्श की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं, सभा के मंच से जनता को मार्ग निर्देश करने का अभिनय करते हैं और भीतर भीतर क्षुद्र स्वार्थ का कीड़ा मन में यत्न से पोसते हैं, वे किसी भी दुर्वल क्षण में जनता के साथ विश्वासघात कर सकते है। यही उनके लिए स्त्राभाविक है। स्वयं अपने को तैयार करने की साधना किए बिना जो कल्याणधर्मी, समाज बनाना चाहते हैं- न केवल उनका ही अधःपतन होगा वल्कि वे पूरी मनुष्य जासि को ध्वंस को और ले जाएंगे, जिनको लेकर उनका काम चलता है, उन्हीं मनुष्यों पर

वे मन प्राण से विश्वास न कर सकेंगे। प्रारंभ में संभव है नेतागिरी के लाभ से अपनी योग्यता बढ़ाने की चेष्टा करें; परन्तु आखिर में अपनी योग्यता बढ़ाने की अपेक्षा दूसरों को अंगुली पर नचाना ही उनके जीवन की सारवस्तु रह जाएगी। व्यक्ति को प्रधानता या पार्टी की प्रधानता के उद्देश्य से मनुष्य जाति को अपने यंत्र के रूप में व्यवहार करना अधिक दिनों तक चल नहीं सकता तथा अवदमित गणमानस एक न एक दिन सिर उठा कर इस बात को समझ ही लेगा और ठोकर खा कर इस बात की शिक्षा लेकर उनमें भी लोगों को दबा कर रखने की एक कुत्सित चेष्टा निश्चय ही जागेगी। मनुष्य का मन किसी के दबाव में रहता नहीं चाहता। अतः लोगों का मन अपने स्फूरण का रास्ता खोजना चाहेगा। व्यक्ति या दलगत स्वच्छन्दता के विरूद्ध जनसाधारण जितना सिर उठाना चाहेगा मनमाना

करनेवाले भी उतना ही क्तिप्रयोग करेंगे और फलस्वरूप अंत में योग्यता अर्जन करने की कुछ भी चेष्टा नहीं रह जाएगी; रहेगी केवल शक्ति अर्जन करने का प्रयास । एक दिन जो कल्याणकारी के रूप में काम करने के लिए आगे आए थे वे ही आखिर में जड़शक्ति सर्वस्व बन बैठेंगे। किसी भी मानस गोष्ठी के बड़े भाग में जब जड़ शक्ति को अधिक प्रधानता दी जाएगी; तो आखिर में सब स्व स्व प्रधान बन बैठेंगे, नीतिज्ञान का विन्दुमात्र भी बचा नहीं रहेगा, समाज में भीषण रूप से मत्स्यन्याय दीव पड़ेगा। अतः जो नीतिवाद और शक्ति सम्प्रयोग के बीच का रास्ता लेकर काम के लिए आगे बढ़ेगे या बड़े हैं, यदि उनमें मन की होनता के कीट को ध्वंस करने की साधना न हो; तो उनसे भी समाज की रक्षा नहीं हो सकेगी। बीच के रास्ते से चलने वाले भी

अन्त में बिल्कुल शक्ति सम्प्रयोगवादियों को तरह ही हो जाएगे ।

क्षुद्रता की ग्लानि को मन से साफ कर देने की कोशिश ही धीर एवं दृढ़ पदों सेः मनुष्य को वृहत् की ओर ले चलती है, शाश्वत महामानवता में सुप्रतिष्ठित करती है,.. इसीलिए जो विश्व मानवता की समस्या के लिए आगे बढ़े है; केवल आदर्श को लेकर उनका काम नहीं चलेगा, साथ-साथ आदर्श को ही लेकर चलने की शक्ति भी. संग्रह करने होगी, शक्ति संग्रह करने की यह चेष्टा ही साधना है वृहत् की साधना । स्मरण रखना होगा कोई बड़ा सिद्धान्त ही जीवों का त्राणसर्त्ता नहीं है। उदग्र कर्म शक्ति जीव भाव के छोटे बड़े प्रत्येक प्रचार को उन्मुक्त, अवारित कर उठाने में सहायक है, जो प्रचण्ड कर्मशक्ति भावलोक के अन्तिम छोर के साथ

अस्तित्व की कठोर वास्त विकता का मेल कर सकती है वही जीव का त्राण कर सकती है। आर्थिक, मानसिक, धार्मिक या सामाजिक सब क्षेत्रों में यह शाश्वत सत्य है।

व्यष्टि कामनाओं को पूरी करने के लिए क्षुद्र वस्तुओं के पीछे दौड़ने में और चाहे जी कुछ भी हो अनेकता में एकता लाने का बीज मन्त्र नहीं है। अनेक को एक करने के लिए अनेकता में जो साधारण सामान्य मनुष्यभाव या जीवभः व एक अखण्ड श्रेय रूप में छिपा हुआ है उसे ही प्रम करना होगा। जो इस अखण्ड, अवारित, उदार विश्व एकता के भाव में उद्बुद्ध नहीं हैं, अथवा जिसमें इसका आग्रह नहीं है उसमें यह सहज प्रेम भी प्रस्फुटित नहीं होगा। जहाँ वृहत् का भाव नहीं है, जिसने उदार, असाम्प्र-दायिक भाव से सर्वग्रबुद्धि ब्रह्म को एकमात्र ध्येय के रूप में ग्रहण करना नहीं सीखा उसके लिए

किसी तरह के गठनमूलक काम में हाथ लगाना बिल्कुल निरर्थक है; क्योकि यह बात ध्रुव सत्य है कि वह अपनी एवं समाज की बड़ी से बड़ी क्षति करके अन्त में पर्दे के पीछे छिप जाने को बाध्य होगा ।

दूसरी अनेक छोटी बड़ी समस्याओं के समान आर्थिक समस्याओं के समाधान का मार्ग भी एक ही है; और वह है मनुष्य के प्रति सच्चा प्रेम। यह प्रेम ही उसे रास्ता दिखा सकता है। यह प्रेम ही बता सकता है कि कहाँ क्या करना चाहिए, कहाँ क्या नहीं करना चाहिए। इसके लिए सैकड़ों हजारों पुस्तकें पढ़ने की जरूरत नहीं है। मूक जन-साधारण के भाग्य के साथ फाटका खेलने वाले लोगों का दरवाजा खटखटाने की जरूरत भी नहीं है। जरूरत है केवल एक चीज की-मनुष्य की ओर सच्चे दिल से, दर्द भरे दिल से ताकने की।

सूचीपत्र

एक मामूली उदाहरण लो-जो दक्षिणपन्थी है, अर्थात् जो शक्ति प्रयोग करने पर विशेष विश्वास नहीं करते, संभव है वे जमींदारी उन्मूलन या बड़े-बड़े उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के विषय में कहें कि वाजिब दाम देकर या हर्जाना दे करके ही इन्हें दखल करना चाहिए। जो शक्ति के प्रयोग पर साधना या आध्यात्मिक शिक्षा के द्वार। मनुष्य के हृदय परिवर्तन पर विश्वास नहीं करते, वे कहेंगे कि इन पूँजीवादियों ने बहुत बड़े असें तक जनता को लूटा है, चूसा है; इसलिए उन्हें हर्जाना देने की बात ही नहीं उठती । परन्तु जिनमें मानवता के प्रति सच्चा प्रेम है वे इन दोनों में से किसी को भी न मान सकेंगे। हर्जाना देकर इस प्रकार के बड़े-बड़े संस्थानों को दखल करने के लिए लम्बे अर्से तक पुराने मालिकों को उनका पावना किस्त पर अदा करना पड़ेगा। अतः लम्बे अर्से

तक साधारण जनता को विशेष सुविधाएँ नहीं मिल सकेंगी। इस तरह विचार कर हर्जाना देने को व्यवस्था वे नहीं मान सकेंगे । और बिना सोचे विचारे समुची सम्पत्ति जब्त कर लेने से समाज के एक बड़े हिस्से का पैसों का अभाव होगा और हो सकता है इसी वजह से समाज का सन्तुलन नष्ट हो जाय । सम्पत्ति रखने वाले सभी मालिक तो समर्थ युवक नहीं होते, उनमें बहुतेरे रोगी बहुतेरे वृद्ध, प'गु होते है बहुत सी विधवाए है; तो बहुत नावालिग है। हर्जाना बिना दिए जबर्दस्ती सब कुछ दखल कर लेने में उनकी क्या हालत होगी ? इसके अलावे सम्पत्तियों के मालिक मात्र तो धनी नहीं होते! उनमें से बहुत निम्नमध्यवित्त या गरीब भी होते हैं। जो मनुष्य को सच्चे हृदय से प्रेम करते हैं वे इस राष्ट्रीयकरण की वजह जो इस प्रकार की असुविधाओं में पड़ेंगे उनकी बात भी सहानुभूति के साथ सोचेंगे और

तदनुकूल काम करेंगे। भले ही वे हर्जाना देने या दाम देकर सम्पत्ति लेने की नीति न मानें । वृद्ध, पंगु नावालिग बच्चे या ऐसी औरतों को जिनकी हालत अच्छी नहीं है मासिक या एक मुश्त रुपए देने की व्यवस्था तो करनी ही होगी। स्वस्थ, सबल युवक या ऐसे प्रौढ़ों को जिन्हें जीविका का दूसरा साधन नहीं है, शारीरिक या मानसिक परिश्रम के बदले अर्थोपार्जन की सुविधा देनी ही होगी और ऐसा सुयोग देने के समय उनकी योग्यता एवं जरूरत दोनों की तरफ सहानुभूति के साथ विचार कर देखना होगा। जो किसी बड़े कारखाने (उद्योग) का मालिक तथा कर्णधार हैं, यदि उनकी सारी पूजी इस उद्योग में लगी हुई है; तो उनकी सम्पत्ति दखल करने के समय उनकी योग्यता समझकर उसके अनुसार किसी काम में लगाना होगा। हाथ में ताकत आ जाने पर कोई व्यक्ति या पार्टी आक्रोशवश यदि इस

आदमी को ध्टेशन का कुली बना दे या पत्थर तोड़ने के काम में लगा दे तो हो सकता है कि परिस्थिति के दबाव में पड़कर वह वैसा करने के लिए बाध्य हो जाए और यह भी संभव है कि शक्ति के मोह में पड़कर कुछ लोग उसे ऐसी अवस्था में पड़ा देखकर खूश भी हो; पर विना अभ्यास की इस जीविका के दबाव से और

अपमान की ग्लानि से वह व्यक्ति थोड़े दिनों में मर जा सकता है। जो कभी लोगों का शोषण कर हर कदम पर मनुष्य के न्यायसंगत अधिकार को दबा रखने की चेष्टा करता आया है वह भी मनु य ही है- यह बात एक क्षण भूलने से काम नहीं चलेगा। सबको साथ लेकर ही हमें घर बनाना है। सबों को सुधार कर, वना कर एकसाथ कल्याण के मार्ग पर आगे बढ़ाना होगा। पहले किसने क्या किया है इसी का ख्याल कर आक्रोश के साथ चलें

तो समझ रखना होगा कि हमने आत्महत्या का ही रास्ता चुना है।

समाज की उन्नति या प्रगति अकेले व्यक्ति की चेष्टा से न होती है न हो सकती है। कोई मस्तिष्क देता है, कोई हाथ देता है, कोई पैर देता है। अतः सुविचार की दृष्टि से पैर को हीन और माथा ही सब कुछ है यह सोचना उतना ही खतरनाक है जितना यह सोचना कि माथा की कोई कीमत नहीं, मस्तिष्क या बुद्धिजीवी मात्र ही शोषक है और जो हाथ पैर से मिहनत करते है वे ही सब कुछ हैं। कौन कहाँ तक अपनी सामर्थ्य काम में लगाता है इसका विचार करना ही असल वात है। समुद्र बाँधने के लिए हनुमान् का पहाड़ की चोटी ही उडाकर ले आना और गिलहरी का कंकड़ लाना दोनों हो तत्त्वतः वराबर है। किसी को आन्तरिकता में हम न

सन्देह कर सकते और न अवज्ञा हीं कर सकते हैं। जो अपनी सम्पद् पूरी तरह से व्यवहार में नहीं लाता वह यदि अपनी पूरी सम्पद को सोलह आना काम लाने वाले से कुछ अधिक काम भी कर तो भी उसकी बड़ी प्रशंसा मैं नहीं करूंगा।

दिन बीतता चलता है; समय आगे बढ़ता जाता है, मनुष्य क। ऐश्वर्य साम्राज्य, वीर्य काल के उसी पर्दे पर छोटी या बड़ी झलक दिखाकर चले जाते है। इसमें समाज की गिलहरियों को ठीक-ठीक मान्यता नहीं मिल पाती। उनका कंकड़ पर्वत की आड़ में ढँका रह जाता है। नेता कहाने बाले लोग अनेक बड़े-बड़े काम कर जाते हैं। इतिहास के पन्नों में उनका व्यौरा चमकते अक्षरों में लिखा रहता है। आगे आने वाले छात्र उनके विषय में गवेषण करेंगे परन्तु इन रथी महारथियों की स्वर्ण

पताका को जो साधारण जन समाज ढो कर ले चला वह विस्मृति के अन्तराल में दबा रह जाता है, उसे कौन याद करता है? संभव है उसका विचार करने पर विचारों का अन्त न मिले। सब की मृत्यु की खवर क्या अखबार में छप सकती है ? सत्र के लिए तो शोक सभा नहीं होती या स्मारक नहीं बनते । भला यह संभव भी है? मैं कहूंगा इस सम्भव असम्भव के पचड़े में सिर खपाने की जरूरत ही क्या है ? कोई पद मर्यादा या विद्‌या बुद्‌धि में कैसा भी क्यों न हो उस में जितनी कर्मयोग्यता का विकाश हुआ है उसी को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करना होगा। छाती का खून सुखा कर जो मनुष्य समाज की प्राणशक्ति का अर्जन करते है, वे हमारी स्वीकृति का मुंह नहीं जोहते। फिर हम उनकी कर्मसाधना को अस्वीकार कर सामाजिक अविचार क्यों करें ?

दुनिया मिहनत करने वालों की है- इस बात को चरम सत्य मान लेने से बौद्धिक परिश्रम को अस्वीकार करना होगा या मन में उसका मूल्य समझकर भी उसे कोने में ढकेलने की चेष्टा करनी होगी। इन तथाकथित मिहनतो लोगों में यदि दरिद्रता है तो दरिद्रता इन तथाकथित बुद्धि जीवियों में भी है। हम इन दोनों में से एक की समस्या को मुख्य समझ कर न देखें। मनुष्य की समस्या का समाधान करने के समय उसका आर्थिक एवं मानसिक अभाव समझकर मनुष्य का मन लेकर, मनुष्य का प्रेम लेकर हम उसकी सहायता के लिए आगे बढ़ेंगे। किसी पार्टी का मुंह देख कर दुनियाँ के शरीर पर 'श्रेणी विशेष' की सम्पत्ति का मुहर नहीं लगावेंगे ।

मनुष्य को चलना है, अग्रसर होना है मनीषा की ओर, शिल्प की ओर, कर्मोद्योग की ओर इन विकाशों में से प्रत्येक सम्भव होगा सब श्रेणी के लोगों की आन्तरिकत -पूर्ण सहयोगिता के द्वारा । यहाँ पण्डित मूर्ख या स्त्री पुरुष का भेद तो होगा ही नहीं - मनुष्यसृष्ट किसी प्रकार के भेद की चरम-व्यवस्था या ईश्वरीय व्यवस्था मान लेना भी नहीं चलेगा। भेदबुद्धि मान लेने से एक महामन्यता और एक वर्ग में हीनमन्यता दीख पड़ेगी। और अन्त में इस महामन्यता और हीनमन्यता के संघर्ष के फलस्वरूप समाज की संरचना टूट कर टूक-टक हो जायगी। हीनमन्यता मनुष्य के लिए सहजभाव से आगे चलने में बाधक बन जाती है और महामन्यता उसे बताती है कि उसके समाज में और दूसरे जो लोग हैं वे ठीक उसके समाज में नहीं हैं; वे अत्यन्त हीन है, बहुत नीचे हैं, वहुत मूर्ख हैं, कुसंस्कारों

से भरे हैं। उनके साथ व्यवहार में 'पहले लात पीछे बात' की नीति ही उचित है। ऐसे मनोभाव के कारण सुन्दर समाज जीवन तो संभव ही नहीं बल्कि मनुष्य-मनुष्य के बीच की स्वाभाविक प्रीति की डोर बीच में बड़ा व्यवधान पड़ जाने के कारण टूट जाती है। इन महा-मानियों में से जो कुछ बुद्धिमान होते हैं वे अपने आचरण में कुछ हद तक अपना मनोभाव ढंक रखने की कोशिश करते हैं; किन्तु तथाकथित हीन नीच लोग मुँह से निकली दो एक सच्ची बातें उनके अतिस्फीत मन पर आघात करती है तब वे अपना असली रूप धारण कर लेते हैं। जिन्हें हीन या छोटा मानते आए हैं उनकी बातें मान लेना उनके लिए असम्भव बात हो जाती है। अपने पक्ष में युक्ति का समर्थन न पाने के साथ वे इन तथाकथित हीन मनुष्यों के प्रति आक्रमणात्मक भाषा का व्यवहार शुरू कर देते है। दरिद्र का उसकी दरिद्रता के कारण

गंजन कर, कुत्सित को उसके रूप की व्याख्या कर, तथाकथित छोटी जाति के लोगों को उनकी जात की बात कहकर, या छोटी उत्र के लोगों को उनकी नासमझी को बात कहकर वे अपना खोया हुआ गौरव वापस पाने की कोशिश करते है। यह मनोभाव बौद्धिक दिवालियापन छोड़ कर और कुछ नहीं, यह समझाने के लिए कागज कलम खर्च करने की जरूरत नहीं ।

समाज के प्रवीणों में कितने ही बड़े-बड़े कुसंस्कार जड़ जमाए हैं जिनको उखाड़ फेंकना सामाजिक सुविचार की रक्षा के लिए अत्यन्त आवश्यक है; पर वे हैं जो इस बात को जानकर भी जानना नहीं चाहते। युक्ति के सामने अपनी हार न मानने के लिए वे अपनी लम्बी उम्र की जानकारी की दुहाई देते हैं। वास्तव जगत् में ऐसी जानकारी का मूल्य अस्वोकार नहीं किया जा

सकता; परन्तु याद रखना चाहिए कि कोई जरूरत नहीं कि हमेशा अतीत की पुनरावृत्ति ही होगी अर्थात् पुरानी अभिज्ञता हमेशा काम ही देगी। अभिज्ञता घटना की परम्परा के निर्धारण में कुछ सहायता देती है; पर दूर दृष्टि न रहने पर वह अभिज्ञात कोई काम नहीं देती। पटपरिवत्तं न के फलस्वरूप सुदूर भविष्य में जो घटनाएँ दीख पड़ती है उनके साथ अतीत की अभिज्ञता की संगति रखकर मनुध्य को अपनी नीति निर्धारित करनी पड़ती हैं। दूर भविष्य में किस रूप में पटपरिवर्तन होगा, प्रवीणों की अपेक्षा नवीन लोगों में इसका ज्ञान होना अधिक स्वाभाविक है। क्योंकि आगे की और चलना ही उनका धर्म है-इसलिए उन्हें ही अधिक दूर की चीज अधिक देखनी पड़ती है। किशोरावस्था या प्रथम यौवन की भाव प्रवणता की बात नहीं कर रहा हूँ। यहाँ मैं वत्तं मान के प्रारब्ध (momentum) को समझ कर भविष्य में

कितना झुक पड़ने की सम्भावना रह सकती है - इसी की चर्चा मैं कर रहा हूँ। किशोरावस्था में या यौवन के दहलीज पर पैर रखने के समय जो भाव प्रवणता होती है वह तो एक झोंक मात्र रहती है। यह झोंक खुद भविष्य की नीति निधारण करने में मदद नहीं करती । परन्तु जिसमें झोंक है उसी में झोंक के फलस्वरूप समझने की क्षमता भी सबसे अधिक होतो है और तदनुसार नीति निर्धारण करने का अधिकार भी सबसे अधिक उसी को होगा इसको अस्वीकार नहीं कर सकता। जो जड़ स्थाणु की तरह पड़े हुए हैं वे भला झोंक का उन्माद क्या समझें ? अतः समाज के यात्रामार्ग में जहाँ प्रतिनिमेष आगे चलने की नीति निर्धारित कर चलना होता है, वहाँ केवल अभिज्ञता मात्र को पूँजी बनाने से काम नहीं चलता। प्रवीणों की अतीत की अभिज्ञता और तरुणों के गठन-मूलक हृदयावेग इन दोनों के मणिकांचन

संयोग से ही गति की द्रुती निर्धारित होगी । मणि और कांचन दोनों में से किसी को दूर नहीं रखना होगा। प्रत्येक को उसके योग्य मर्यादा देकर, प्रत्येक के प्रति सुविचार कर मनुष्य जाति को अपनी मर्यादा में महिमान्वित करना होगा ।

जो लोग समाज में नेता के स्थान पर हैं उनमें जहाँ दूसरे को तुच्छ ताच्छिल्य करने की भावना रहती है वहाँ एक बड़ा उलटफेर हो जाता हैं। तुच्छ ताच्छिल्य करने का यह मनोभाव हमेशा महामन्यता के कारण ही नहीं होता । बहुत बार अपनी अज्ञता को ढककर रखने के लिए भी वे दूसरों को ताच्छिल्य करते हैं। महामन्यता समाज के लिए हानिकारक है और इस प्रकार की अज्ञता ढंक रखने के लिए दूसरों का तुच्छ-ताच्छिल्य करना तो और भी हानिकारक है। विद्‍या बुद्‍धि, रूप गुण पद-

मर्यादा, उम्र जैसी भी क्यों न हो, प्रत्येक मनुष्य को याद रखना होगा कि वह जिसे अपने से हीन समझता है वह बहुत सी बातें (जिन्हें समझा जाता है) उससे ज्यादा जानता है। यह बात कुछ पहले भी कह चुका हूँ, फिर कह रहा हूं; क्योंकि मनुष्य समाज में जितने अनर्थ होते हैं उनका पचहत्तर प्रतिशत भाग मनुष्य के प्रति मनुष्य के सुविचार के अभाव के कारण होता हैं।

मानव समाज- प्रथम खंड